

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्रिका

वर्ष - ४१

अंक - अप्रेल २०१७ - मार्च २०१८

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिये

पता - Editor : Titthayar, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007

Phone : (033) 2268-2655, 2272-9028,

Email : jainbhawan@rediffmail.com

Website : www.jainbhawan.in

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें --

Secretary, Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007

Published by Dr. Lata Bothra on behalf of Jain Bhawan from
P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone : 2268-2655
and printed by her at Arunima Printing Works, 81, Simla Street
Kolkata - 700 006 Phone : 2241-1006

संपादन

डॉ. लता बोथरा

पी-एच.डी., डी.लिट्



अनुक्रमणिका

क्र. सं.	लेख	लेखक	पृ. सं.
१.	पर्युषण पर्व : क्या, कब, क्यों और कैसे ?	डॉ. सागरमल जैन	५
२.	आनंदघन और यशोविजय	कुमारपाल देसाई	२९
३.	सोने के कंगन	श्री केवल मुनि	४८

ISSN 2277 - 7865

Composed by:

Jain Bhawan Computer Centre, P-25, Kalakar Street Kolkata - 700 007

पर्युषण पर्व : क्या, कब, क्यों और कैसे?

डॉ. सागरमल जैन

भारत पर्वों (त्योहारों) का देश है। वैसे तो प्रत्येक मास में कोई न कोई पर्व आता ही है किन्तु वर्षाऋतु में पर्वों की बहुलता है जैसे-गुरुपूर्णिमा, रक्षाबंधन, जन्माष्टमी, ऋषि पंचमी, गणेश चतुर्थी, अनन्त चतुर्दशी, श्राद्ध, नवरात्र, दशहरा, दीपावली आदि आदि। वर्षा ऋतु का जैन परम्परा का प्रसिद्ध पर्व पर्युषण है। जैन परम्परा में पर्वों को दो भागों में विभाजित किया गया है—एक लौकिक पर्व और दूसरे आध्यात्मिक पर्व। पर्युषण की गणना आध्यात्मिक पर्व के रूप में की गई है। इसे पर्वाधिराज कहा गया है। आगमिक साहित्य में उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर पर्युषण पर्व का इतिहास दो सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। यद्यपि प्राचीन आगम साहित्य में इसकी निश्चित तिथि एवं पर्व दिनों की संख्या का उल्लेख नहीं मिलता है। मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है कि भाद्र शुक्ला पंचमी का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा का मूर्तिपूजन सम्प्रदाय इसे भाद्र द्वादशी से भाद्र शुक्ल चतुर्थी तक तथा स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय इसे कृष्णा त्रयोदशी से भाद्र शुक्ला पंचमी तक मानता है। दिगम्बर परम्परा में यह पर्व भाद्र शुक्ला पंचमी से भाद्र शुक्ला चतुर्दशी तक मनाया जाता है। उसमें इसे दश लक्षण पर्व के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार श्वे० परम्परा में यह अष्टदिवसीय और दिगम्बर परम्परा में दशदिवसीय पर्व है। इसके जितने प्राचीन एवं विस्तृत ऐतिहासिक उल्लेख श्वे०

परम्परा में प्राप्त है, उतने दिगम्बर परम्परा में नहीं हैं। यद्यपि दस कल्पों (मुनि के विशिष्ट आचारों) का उल्लेख श्वे० एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पाया जाता है। इन कल्पों में एक पज्जोसवणकप्प (पर्युषण कल्प) भी है। श्वे० परम्परा के बृहद्-कल्प भाष्य^१ में और दिगम्बर परम्परा के मूलाचार^२ में और यापनीय परम्परा के ग्रन्थ भगवती आराधना^३ में इन दस कल्पों का उल्लेख है। किन्तु इन ग्रन्थों की अपेक्षा भी अधिक प्राचीन श्वे० छेदसूत्र—आयार दशा (दशाश्रुतस्कन्ध) तथा निशीथ में पज्जोसवण का उल्लेख है। आयारदशा के आठवें कल्प का नाम ही पर्युषण कल्प है। जिसके आधार पर ही आगे चलकर कल्पसूत्र की रचना हुई है और जिसका आजतक पर्युषण के दिनों में वाचन होता है।

पर्युषण (पज्जोसवण) शब्द का अर्थ :- आयारदशा एवं निशीथ आदि आगम ग्रन्थों में पर्युषण शब्द के मूल प्राकृत रूप पज्जोसवण शब्द का प्रयोग भी अनेक अर्थों में हुआ है। निम्न पंक्तियों में हम उसके इन विभिन्न अर्थों पर विचार करेंगे।

(१) पज्जोसवण :- श्रमण के दस कल्पों में एक कल्प पज्जोसवण कल्प है। पज्जोसवण कल्प का अर्थ है— वर्षावास में पालन करने योग्य आचार के विशेष नियम। आयारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध) के पज्जोसवणा कल्प नामक अष्टम अध्याय में साधु-साध्वियों के वर्षावास सम्बन्धी विशेष आचार-नियमों का उल्लेख है।^४ अतः इस सन्दर्भ में पज्जोसवण का अर्थ वर्षावास होता है।

१. आचेलकुद्देसिय सिज्जायर रायपिंड कितिकम्मे।

वत जेड्ड पडिक्कमणे मासं पज्जोसवण कप्पे।।

२. मूलाचार, समयसाराधिकार, १८

३. भगवती आराधना, ४२३

४. दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदशा), अध्याय ८,

(2) निशीथ में इस शब्द का प्रयोग एक दिन विशेष के अर्थ में हुआ है। उसमें उल्लेख है कि जो भिक्षु 'पज्जोसवणा' में किंचितमात्र भी आहार करता है उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है।¹ इस सन्दर्भ में 'पज्जोसवण' शब्द समग्र वर्षावास का सूचक नहीं सकता है क्योंकि यह असम्भव है कि सभी साधु-साधवियों को चार-मास निराहार रहने का आदेश दिया गया हो। अतः इस सम्बन्ध में 'पज्जोसवणा' शब्द किसी दिन विशेष का सूचक हो सकता है, समग्र वर्षाकाल का नहीं।

पुनः यह भी कहा गया है कि जो भिक्षु अपर्युषण काल में पर्युषण करता है और पर्युषण काल में पर्युषण नहीं करता है, वह दोषी है।² यद्यपि यहाँ 'पज्जोसवण' के एक दिन विशेष और वर्षावास दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं, फिर भी इस प्रसंग में उसका अर्थ एक दिन विशेष करना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

(3) निशीथ में पज्जोसवण का एक अर्थ **वर्षावास के लिए स्थित होना** भी है। उसमें कहा है कि जो भिक्षु वर्षावास के लिए स्थित (वासावासं पज्जोसवियसि) होकर फिर ग्रामानुग्राम विचरण करता है वह दोष का सेवन करता है।³ अतः इस सन्दर्भ में पर्युषण का अर्थ वर्षावास बिताने हेतु किसी स्थान पर स्थित रहने का संकल्प कर लेना है अर्थात् अब मैं चार मास तक इसी स्थान पर रहूँगा ऐसा निश्चय कर लेना है। ऐसा लगता है कि पर्युषण

१. जे भिक्खु पज्जोसवणाए इत्तरियं पि आहारं आहारेति अहारंतं वा सात्तिज्जति-निशीथ, १०।४५

२. जे भिक्खु अपज्जोसवणाए पज्जोसवइ पज्जोसवंतं वा साइज्जइ

—निशीथ, १०।४३

३. जे भिक्खु वासावासं पज्जोसवियसि गामाणुगामं दुइज्जइ दुइज्जंतं वा साइज्जइ-निशीथ, १०।४१

वर्षावास के लिए एक स्थान पर स्थित हो जाने का एक दिन विशेष था—जिस दिन श्रमण संघ को उपवासपूर्वक केशलोच, वार्षिक प्रतिक्रमण (सांवत्सरिक प्रतिक्रमण) और पज्जोसवणा कल्प का पाठ करना होता था।

पर्युषण के पर्यायवाची अन्य नाम :

'पर्युषण' के अनेक पर्यायवाची नामों का उल्लेख निशीथ भाष्य 3139, कल्पसूत्र की विभिन्न टीकाओं में उपलब्ध होता है। इसके कुछ प्रसिद्ध पर्यायवाची शब्द निम्न हैं—पज्जोसमणा (पर्युपशमना), परिवसणा (परिवसना), पज्जुसणो (पर्युषण), वासावास (वर्षावास), पागइया (प्राकृतिक), पढमसमोसरण (प्रथमसमवशरण), परियायठवणा (पर्यायस्थापना), ठवणा (स्थापना), जट्टोवग्ग (ज्येष्ठावग्रह)। इसके अतिरिक्त वर्तमान में अष्टाह्निक पर्व या अठाईमहोत्सव नाम भी प्रचलित है। इन पर्यायवाची नामों से हमें पर्युषण के वास्तविक स्वरूप का भी बोध हो जाता है।

पज्जोसमणा (पर्युपशमना)

पज्जोसमणा शब्द की व्युत्पत्ति परि-उपशमन से भी की जाती है। परि अर्थात् पूरी तरह से, उपशमन अर्थात् उप शान्त करना। पर्युषण पर्व में कषायों की अथवा राग-द्वेष की वृत्तियों को सम्पूर्ण रूप से क्षय करने हेतु साधना की जाती है इसलिए उसे पज्जोसमणा (पर्युपशमना) कहा जाता है।

पज्जोसवणा/परिवसणा (परिवसना)

कुछ आचार्य पज्जोसवण की व्युत्पत्ति परि - उषण् से भी करते हैं। उषण् धातु वस् अर्थ में भी प्रयुक्त होती है = उषणं -

१. परि-सामस्त्येन उषणं-वसनं पर्युषणा-सुबोधिनी-टीका, कल्पसूत्र,

वसनं। इस प्रकार पज्जोसवण का अर्थ होगा परिवसना अर्थात् विशेष रूप से निवास करना। पर्युषण में एक स्थान पर चार मास के लिए मुनिगण स्थित रहते हैं इसलिए इसे परिवसना कहा जाता है।¹ परिवसना का अध्यात्मिक अर्थ पूरी तरह आत्मा के निकट रहना भी है। 'परि' अर्थात् सर्वथा प्रकार से और 'वसना' अर्थात् रहना—इस प्रकार पूरी तरह से आत्मा में निवास करना या रहना परिवसना है जो कि पर्युषण के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। इस पर्व की साधना में साधक बहिर्मुखता का परित्याग कर तथा विषय-वासनाओं से मुँह मोड़कर आत्मसाधना में लीन रहता है।

पज्जुसण (पर्युषण)

'परि' उपसर्ग और 'उष्' धातु के योग से भी पर्युषण शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। उष् धातु दहन अर्थ की भी सूचक है। इसी व्याख्या की दृष्टि से इसका अर्थ होता है सम्पूर्ण रूप से दग्ध करना अथवा जलना। इस पर्व में साधना एवं तपश्चर्या के द्वारा कर्म रूपी मल को अथवा कषाय रूपी मल को दग्ध किया जाता है। इसलिए पज्जुसण (पर्युषण) आत्मा के कर्म एवं कषाय रूपी मलों को जला कर उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने का पर्व है।

वासावास (वर्षावास)

'पर्युषणाकल्प' में पर्युषण शब्द का प्रयोग वर्षावास के अर्थ में भी हुआ है। वर्षाकाल में साधु-साध्वी एक स्थान पर स्थित रहकर पर्युषण कल्प का पालन करते हुए 'आत्मसाधना' करते हैं, इसलिए इसे वासावास (वर्षावास) भी कहा जाता है।

पागइया (प्राकृतिक)

पागइया का संस्कृत रूप प्राकृतिक होता है। प्राकृतिक शब्द स्वाभाविकता का सूचक है। विभाव अवस्था को छोड़कर स्वभाव

अवस्था में परिरमण करना ही पर्युषण की साधना का मूलहार्द्र है। वह विकृति से प्रकृति में आना है, विभाव से स्वभाव में आना है। इसलिए उसे पागइया (प्राकृतिक) कहा गया है। काम, क्रोध आदि विकृतियों (विकारों) का परित्याग कर क्षमा, शान्ति, सरलता आदि स्वाभाविक गुणों में रमण करना ही पर्युषण है।

पढमसमोसरण (प्रथमसमवशरण)

प्राचीन परम्परा के अनुसार आषाढ शुक्ला पूर्णिमा को संवत्सर पूर्ण होने के बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से नववर्ष का प्रारम्भ होता है। वर्ष का प्रथम दिन होने से इसे पढमसमोसरण (प्रथमसमवशरण) कहा गया है। दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर के प्रथम समवशरण की रचना और उनकी वाक्धारा का प्रस्फुटन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को हुआ था। इसी दिन उन्होंने प्रथम उपदेश दिया था, इसलिए इसे प्रथम समवशरण कहा जाता है। वर्तमान काल में भी चातुर्मास में स्थिर होने के पश्चात् चातुर्मासिक प्रवचनों का प्रारम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से ही माना जाता है। अतः इसे पढमसमोसरण कहा गया है। निशीथ में पर्युषण के लिए 'पढमसमोसरण' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें कहा गया है कि जो साधु प्रथम समवशरण अर्थात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के पश्चात् वस्त्र, पात्र आदि की याचना करता है वह दोष का सेवन करता है।¹

परियायठवणा/परियायवत्थणा (पर्याय स्थापना)

पर्युषण पर्व में साधु-साध्वियों को उनके विगत वर्ष की संयम साधना में हुआ स्वखलनाओं का प्रायश्चित देकर उनकी दीक्षा पर्याय का पुनर्निर्धारण किया जाता है। जैन परम्परा में प्रायश्चित के विविध रूपों में एक रूप छेद भी है। छेद का अर्थ होता है—दीक्षा पर्याय में

१. निशीथ अध्ययन, १०।४६

कमी करना। अपराध एवं स्खलनाओं की गुरुता के आधार पर विविध काल का दीक्षा छेद किया जाता है और साधक की श्रमण संघ में ज्येष्ठता और कनिष्ठता का पुनर्निर्धारण होता है, अतः पर्युषण का एक पर्यायवाची नाम परियायठवणा (पर्यायस्थापना) भी कहा गया है साधुओं की दीक्षा पर्याय की गणना भी पर्युषणों के आधार पर की जाती है। दीक्षा के बाद जिस साधु के जितने पर्युषण हुए हैं, उसको उतने वर्ष का दीक्षित माना जाता है। यद्यपि पर्यायठवणा के इस अर्थ की अपेक्षा उपर्युक्त अर्थ ही अधिक उचित है।

ठवणा (स्थापना)

चूंकि पर्युषण (चातुर्मासकाल) की अवधि में साधक एक स्थान पर स्थित रहता है इसलिए इसे ठवणा (स्थापना) भी कहा जाता है। दूसरे पर्युषण (संवत्सरी) के दिन चातुर्मास की स्थापना होती है, इसलिए भी इसे ठवणा (स्थापना) कहा गया है।

जेड्डोवग (ज्येष्ठावग्रह)

अन्य ऋतुओं में साधु-साध्वी एक या दो मास से अधिक एक स्थान पर स्थित नहीं रहते हैं किन्तु पर्युषण (वर्षाकाल) में वे चार मास तक एक ही स्थान पर स्थित रहते हैं, इसलिए इसे जेड्डोवग (ज्येष्ठावग्रह) भी कहा गया है।

अष्टाहिक पर्व

पर्युषण को अष्टाहिक पर्व या अष्टाहिक महोत्सव के नाम से भी जाना जाता है। वर्तमान में यह पर्व आठ दिनों तक मनाया जाता है इसलिए इसे अष्टाहिक अर्थात् आठ दिनों का पर्व भी कहते हैं।

दशलक्षण पर्व

दिगम्बर परम्परा में इसका प्रसिद्ध नाम दशलक्षण पर्व है।

दिगम्बर परम्परा में भाद्र शुक्ला पंचमी से भाद्र शुक्ला चतुर्दशी तक दश दिनों में, धर्म के दस लक्षणों की क्रमशः विशेष साधना की जाती है अतः इसे दशलक्षण पर्व कहते हैं।

पर्युषण (संवत्सरी) पर्व कब और क्यों ?

प्राचीन ग्रंथों विशेष रूप से कल्पसूत्र एवं निशीथ के देखने से यह स्पष्ट होता है कि पर्युषण मूलतः वर्षावास की स्थापना का पर्व था। यह वर्षावास की स्थापना के दिन मनाया जाता था। उपवास, केशलोच, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित, क्षमायाचना (कषाय-उपशमन) और पज्जोसवणाकप्प (पर्युषण कल्प - कल्पसूत्र) का पारायण उस दिन के आवश्यक कर्तव्य थे। इस प्रकार पर्युषण एक दिवसीय पर्व था। यद्यपि 'निशीथचूर्णि' के अनुसार पर्युषण के अवसर पर तेला (अष्टम भक्त - तीन दिन का उपवास) करना आवश्यक था। उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि 'पज्जोसवणाए अट्टम न करेइ तो चउगुरू' अर्थात् जो साधु पर्युषण के अवसर पर तेला नहीं करता है तो उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है।^१ इसका अर्थ है कि पर्युषण की आराधना का प्रारम्भ उस दिन के पूर्व भी हो जाता था। 'जीवाभिगम' के अनुसार पर्युषण एक अठाई महोत्सव (अष्ट दिवसीय पर्व) के रूप में मनाया जाता था। उसमें उल्लेख है कि चातुर्मासिक पूर्णिमाओं एवं पर्युषण के अवसर पर देवतागण नन्दीश्वर द्वीप में जाकर अष्टाहिक महोत्सव मनाया करते हैं।^२ दिगम्बर परम्परा में आज भी आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन की पूर्णिमाओं (चातुर्मासिक पूर्णिमाओं) के पूर्व अष्टाहिक पर्व मनाने की प्रथा है। लगभग आठवीं शताब्दी से दिगम्बर साहित्य में इसके

१. निशीथचूर्णि, ३२१७.

२. जीवाभिगम—नन्दीश्वर द्वीप वर्णन,

उल्लेख मिलते हैं। प्राचीनकाल में पर्युषण आषाढ़ पूर्णिमा को मनाया जाता था और उसके साथ ही अष्टाहिक महोत्सव भी होता था। हो सकता है कि बाद में जब पर्युषण भाद्र शुक्ल चतुर्थी/ पंचमी को मनाया जाने लगा तो उसके साथ भी अष्ट-दिवस जुड़े रहे और इस प्रकार अष्ट दिवसीय पर्व बन गया।

वर्तमान में पर्युषण पर्व का सबसे महत्त्वपूर्ण दिन संवत्सरी पर्व माना जाता है। समवायांग के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा से एक मास और बीस रात्रि पश्चात् भाद्रपद अर्थात् शुक्ला पंचमी को पर्युषण सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए। निशीथ के अनुसार पचासवीं रात्रि का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। उपवासपूर्वक सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना यह श्रमण का आवश्यक कर्तव्य तो था ही, लेकिन निशीथचूर्णि में उदयन और चण्डप्रद्योत के आख्यान से ऐसा लगता है कि वह गृहस्थ के लिए भी अपरिहार्य था। लेकिन मूल प्रश्न यह है कि यह सांवत्सरिक पर्व कब किया जाय? सांवत्सरिक पर्व के दिन समग्र वर्ष के अपराधों और भूलों का प्रतिक्रमण करना होता है, अतः इसका समय वर्षान्त ही होना चाहिए। प्राचीन परम्परा के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा को वर्ष का अन्तिम दिन माना जाता था। श्रावण या पंचमी को किसी भी परम्परा (शास्त्र) के अनुसार वर्ष का अन्त नहीं होता। अतः भाद्र शुक्ल पंचमी को सावत्सरिक प्रतिक्रमण की वर्तमान परम्परा समुचित प्रतीत नहीं होती। प्राचीन आगमों में जो देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का उल्लेख है उसको देखने से ऐसा लगता है कि उस अवधि के पूर्ण होने पर ही तत् संबंधी प्रतिक्रमण (आलोचना) की जाती थी। जिस प्रकार आज भी दिन की समाप्ति पर देवसिक, पक्ष की समाप्ति पर पाक्षिक, चतुर्मास

की समाप्ति पर चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया जाता है, उसी प्रकार वर्ष की समाप्ति पर सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की यह तिथि भिन्न कैसे हो गई? निशीथ भाष्य की चूर्णि में जिनदासगणि ने स्पष्ट लिखा है कि पर्युषण पर्व पर वार्षिक आलोचना करनी चाहिए। (पज्जोसवनासु वरिसिया आलोयणा दायिवा) चूंकि वर्ष की समाप्ति आषाढ़ पूर्णिमा को ही होती है इसलिए आषाढ़ पूर्णिमा को पर्युषण अर्थात् सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। निशीथ भाष्य में स्पष्ट उल्लेख है— आषाढ़ पूर्णिमा को ही पर्युषण करना उत्सर्ग सिद्धान्त है।

सम्भवतः इस पक्ष के विरोध में समवायांग और आयारदशा (दशाश्रुत स्कंध) के उस पाठ को प्रस्तुत किया जा सकता है। जिसके अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा के एक मास और बीस रात्रि के व्यतीत हो जाने पर वर्षावास (पर्युषण) करना चाहिए चूंकि कल्पसूत्र के मूल पाठ में यह भी लिखा हुआ है कि श्रमण भगवान महावीर ने आषाढ़ पूर्णिमा से एक मास और बीस रात्रि के व्यतीत हो जाने पर वर्षावास किया था उसी प्रकार गणधरों ने किया, स्थविरों ने किया और उसी प्रकार वर्तमान श्रमण निर्ग्रन्थ भी करते हैं। निश्चित रूप से यह कथन भाद्र शुक्ल पंचमी को पर्युषण करने के पक्ष में सबसे बड़ा प्रमाण है। लेकिन हमें यह विचार करना होगा कि क्या यह अपवाद मार्ग था या उत्सर्ग मार्ग था। यदि हम कल्पसूत्र के उसी पाठ को देखें तो उसमें यह स्पष्ट लिखा हुआ है कि इसके पूर्व तो पर्युषण एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना कल्पता है, किन्तु वर्षा ऋतु के एक मास और बीस रात्रि का अतिक्रमण करना नहीं कल्पता है— ‘अंतरा विय कप्पइ (पज्जोसवित्तए) नो से कप्पइ तंरयणि उवाइणा वित्तए’। निशीथ भाष्य 3153 की चूर्णि में और कल्पसूत्र की टीकाओं में जो भाद्रशुक्ला चतुर्थी को पर्युषण या

संवत्सरी करने का कालक आचार्य की कथा के साथ जो उल्लेख है वह भी इसी बात की पुष्टि करता है कि भाद्र शुक्ल पंचमी के पूर्व तो पर्युषण किया जा सकता है किन्तु उस तिथि का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है। निशीथ चूर्णि में स्पष्ट तिथि का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है। निशीथ चूर्णि में स्पष्ट लिखा है कि—आषाढ पूणिमाए पज्जोसेवन्ति एस उसग्गो सेस कालं पज्जोसेवन्ताणं अववातो। अववाते वि सवीससतिरातमासातो परेण अतिकम्मेउण वट्टति सवीसतिराते मासे पुण्णे जति वासखेतं लब्भति तो रुक्ख हेट्टावि पज्जोसवेयव्वं तं पुण्णिमाए पंचमीए, दसमीए, एवमाति पव्वेसु पज्जुसवेयव्वं नो अपवेसु^१ अर्थात् आषाढ पूर्णिमा का पर्युषण करना यह उत्सर्ग मार्ग है और अन्य समय में पर्युषण करना यह अपवाद मार्ग है। अपवाद मार्ग में भी एक मास और 20 दिन अर्थात् भाद्र शुक्ल पंचमी का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। यदि भाद्र शुक्ल पंचमी तक भी निवास के योग्य स्थान उपलब्ध न हो तो वृक्ष के नीचे पर्युषण कर लेना चाहिए। अपवाद मार्ग में भी पंचमी, दशमी, अमावस्या एवं पूर्णिमा इन पर्व तिथियों में ही पर्युषण करना चाहिए, अन्य तिथियों में नहीं। इस बात को लेकर निशीथ भाष्य एवं चूर्णि में यह प्रश्न भी उठाया गया कि भाद्र शुक्ल चतुर्थी को अपर्व तिथि में पर्युषण क्यों किया जाता है। इस सन्दर्भ में उसमें कालक आचार्य की कथा दी गयी है। कथा इस प्रकार है—कालक आचार्य विचरण करते हुए वर्षावास हेतु उज्जयिनी पहुँचे। किन्तु किन्हीं कारणों से राजा रुष्ट हो गया, अतः कालक आचार्य ने वहाँ श्रमण संघ को आदेश भिजवाया कि जब तक हम नहीं पहुँचते तब तक आप लोग पर्युषण न करें। वहाँ का सातवाहन राजा श्रावक था

१. निशीथचूर्णि, ३१५३

उसने कालक आचार्य को सम्मान के साथ नगर में प्रवेश कराया। प्रतिष्ठानपुर पहुँचकर आचार्य ने घोषणा की कि भाद्र शुक्ल पंचमी को पर्युषण करेंगे। यह सुनकर राजा ने निवेदन किया कि उस दिन नगर में इन्द्रमहोत्सव होगा। अतः आप भाद्र शुक्ल षष्ठी को पर्युषण कर लें। किन्तु आचार्य ने कहा कि शास्त्र के अनुसार पंचमी का अतिक्रमण करना कल्प्य नहीं है। इस पर राजा ने कहा कि फिर आप भाद्र शुक्ल चतुर्थी को ही पर्युषण करें आचार्य ने इस बात को स्वीकृति दे दी और श्रमण संघ में भाद्र शुक्ला चतुर्थी को पर्युषण किया।^१

यहाँ ऐसा लगता है कि आचार्य लगभग भाद्र कृष्ण पक्ष के अन्तिम दिनों में ही प्रतिष्ठान पुर पहुँचे थे और भाद्र कृष्ण अमावस्या को पर्युषण करना सम्भव नहीं था। यद्यपि वे अमावस्या के पूर्व अवश्य ही प्रतिष्ठानपुर पहुँच चुके थे क्योंकि निशीथ चूर्णि में यह भी लिखा है कि राजा ने श्रावकों को आदेश दिया कि तुम लोग भाद्र कृष्ण अमावस्या को पाक्षिक उपवास करना और भाद्रशुक्ल प्रतिपदा को विविध पकवानों के साथ पारणे के लिए मुनिसंघ को आहार प्रदान करना। चूंकि शास्त्र-आज्ञा के अनुसार सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के पूर्व तेला करना होता था, अतः भाद्रशुक्ल द्वितीया से चतुर्थी तक श्रमण संघ ने तेला किया। भाद्र शुक्ला पंचमी को पारणा किया। जनता ने आहार-दान कर श्रमण संघ की उपासना की। इसी कारण महाराष्ट्र देश में भाद्र शुक्ला पंचमी श्रमण पूजा नाम से भी प्रचलित है।^२ यह भी सम्भव है कि इसी आधार पर हिन्दू परम्परा में ऋषि पंचमी का विकास हुआ हो।

पर्युषण/दशलक्षण और दिगम्बर परम्परा :

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया कि दिगम्बर ग्रन्थ

१. निशीथचूर्णि, ३१५३ (कथा विस्तारपूर्वक वर्णित है)

२. वहीं

मूलाचार के समयसाराधिकार की 118वीं गाथा में और यापनीय संघ के ग्रन्थ भगवती आराधना की 423वीं गाथा में दस कल्पों के प्रसंग में पर्युषण कल्प का उल्लेख हुआ है। किन्तु ऐसा लगता है कि पर्युषण की मूलभूत अवधारणा से दक्षिण भारत में विकसित दिगम्बर परम्परा अपरिचित होती गई। मूलाचार में मुनिलिंग प्रसंग में दस कल्प संबंधी इस गाथा का उल्लेख हुआ है उसे देखने से ज्ञात होता है कि अचेलता की पुष्टि के लिए ही इस गाथा का बृहदकल्प भाष्य से या अन्यत्र कहीं से ग्रहण हुआ है। इसकी परवर्ती गाथाओं में मयूर-पिच्छि आदि का विवेचन है। यदि यह गाथा मूलाचार का अंग होती तो उसमें इसके बाद क्रमशः दस कल्पों का विवेचन होना चाहिए था। जबकि इसकी पूर्ववर्ती गाथा अचेलता का वर्णन करती है और परवर्ती गाथाएँ मयूरपिच्छिका का। आश्चर्य यह भी है कि मूलाचार के टीकाकार आचार्य वसुनन्दी ने शय्यातर एवं पज्जोसवण नामक कल्पों के मूल भूत अर्थों के भी परिचित नहीं है। उन्होंने पज्जोसवण कल्प का अर्थ तीर्थकरों के पंच-कल्याणक स्थानों की पर्युपासना से किया है (पज्जो-पर्या पर्युपासनं निषद्यकायाः पंच कल्याण स्थानानां च सेवनं पर्येत्युच्यते श्रमणस्य श्रमणस्य वा कल्पो विकल्प श्रामण कल्पः— मूलाचार, भाग 2, पृ० 105) पज्जोसवणा में आये हुए 'सवना' का पाठान्तर समणा कर 'श्रमण' अर्थ किया है जो कि यथार्थ नहीं है ऐसा लगता है कि दिगम्बर आचार्य पज्जोसवणा कल्प के मूल अर्थ से परिचित नहीं थे। यापनीय शिवार्य की भगवती आराधना में भी यही दस कल्पों का विवेचन करने वाली गाथा है। किन्तु यहाँ पर यह गाथा ग्रन्थ का मूल अंग है क्योंकि आगे और पीछे की गाथाओं में भी

कल्प का विवेचन है। इसके टीकाकार अपराजित सूरि ने इस गाथा की बहुत ही विस्तृत टीका लिखी है और प्रत्येक कल्प का वास्तविक अर्थ स्पष्ट किया है। यही नहीं, उन्होंने इस सम्बन्ध में आगमों (श्वे० आगमों) के सन्दर्भ भी प्रस्तुत किये हैं। यह स्वाभाविक था क्योंकि यापनीय आचार्य आगमिक साहित्य को मान्य करते थे। अपराजित सूरि ने पज्जोसवण कल्प का अर्थ वर्षावास के लिए एक स्थान पर स्थित रहना ही किया जो श्वे० परम्परा से मूल अर्थ के अधिक निकट है। उन्होंने चातुर्मास का उत्सर्गकाल 120 दिन बतलाया है, साथ ही यह भी बताया है कि यदि साधु आषाढ़ शुक्ला 10 को चातुर्मास स्थल पर पहुँच गया है तो वह कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् 30 दिन और ठहर सकता है। अपराजित सूरि के अनुसार अपवाद काल 100 दिन का होता है। यहाँ श्वे० परम्परा से उनका भेद स्पष्ट होता है क्योंकि श्वे० परम्परा में अपवाद काल भाद्र शुक्ला 5 से कार्तिक पूर्णिमा तक 60 दिन का ही है। इस प्रकार वे यह मानते हैं कि उत्सर्ग रूप में तो आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को और अपवाद रूप में उसके 20 दिन पश्चात् तक कभी पर्युषण अर्थात् वर्षावास की स्थापना कर लेनी चाहिए।¹ इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के आगमिक आधारों पर आषाढ़ पूर्णिमा ही पर्युषण की उत्सर्ग तिथि ठहरती है। आज भी दिगम्बर परम्परा में वर्षायोग की स्थापना के साथ अष्टाह्निक पर्व मनाने की जो प्रथा है वहीं पर्युषण मूलहार्द्र के साथ उपयुक्त लगती है।

जहाँ तक दशलक्षण पर्व के इतिहास का प्रश्न है वह अधिक

१. भगवती आराधना, गाथा ४२३

२. वही, गाथा ४२३ की टीका, पृ० ३३४

पुराना नहीं है। मुझे अब तक किसी प्राचीन ग्रन्थ में इसका उल्लेख देखने को नहीं मिला है। यद्यपि 17वीं शताब्दी की एक कृति व्रत तिथि निर्णय में यह उल्लेख अवश्य है कि दशलाक्षणिक व्रत में भाद्र पद की शुक्ला पंचमी को पोषध करना चाहिए।^१ इससे पर्व का भी मुख्य दिन यही प्रतीत होता है। क्षमाधर्म आराधना का दिन होने से भी यह श्वे० परम्परा की संवत्सरी-पर्व की मूलभावना के अधिक निकट बैठता है। आशा है दिगम्बर परम्परा के विद्वान इस पर अधिक प्रकाश डालेंगे।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी पर्युषण का उत्सर्ग काल आषाढ़ पूर्णिमा और अपवादकाल भाद्र शुक्ला पंचमी माना जा सकता है।

समन्वय कैसे करें ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आषाढ़ पूर्णिमा पर्युषण (संवत्सरी) पर्व की अपर सीमा है और भादों शुक्ला 5 अपर सीमा है। इस प्रकार पर्युषण इन दोनों तिथियों के मध्य कभी भी पर्व तिथि में किया जा सकता है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा को केशलोच, उपवास एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कर वर्षावास की स्थापना कर लेना चाहिए यह उत्सर्ग मार्ग है। यह भी स्पष्ट है कि बिना किसी विशेष कारण के अपवाद मार्ग का सेवन करना भी उचित नहीं है। प्राचीन युग में जब

१. भगवती आराधना, गाथा ४२३

२. वही, गाथा ४२३ की टीका, पृ० ३३४

३. दशलाक्षणिक व्रते भाद्रपद मासे शुक्ले श्री पंचमीदिने प्रोषधः कार्यः

उपाश्रय नहीं थे तथा साधु साधुओं के निमित्त बने उपाश्रयों में नहीं ठहरते थे, तब योग्य स्थान की प्राप्ति के अभाव में पर्युषण (वर्षावास की स्थापना) कर लेना सम्भव नहीं था। पुनः साधु साधियों की संख्या अधिक होने से आवास प्राप्ति सम्बन्धी कठिनाई बराबर बनी रहती थी। अतः अपवाद के सेवन की सम्भावना अधिक बनी रहती थी। स्वयं भगवान् महावीर को भी स्थान संबंधी समस्या के कारण वर्षाकाल में विहार करना पड़ा था। निशीथचूर्णि की रचना तक अर्थात् सातवीं-आठवीं शताब्दि तक साधु-साध्वी स्थान की उपलब्धि होने पर अपनी एवं स्थानीय संघ की सुविधा के अनुरूप आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा से भादों शुक्ला पंचमी तक कभी भी पर्युषण कर लेते थे। यद्यपि उस युग तक चैत्यवासी साधुओं ने महोत्सव के रूप में पर्व मानना तथा गृहस्थों के समक्ष कल्पसूत्र का वाचन करना एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना आदि प्रारम्भ कर दिया था—किन्तु तब भी कुछ कठोर आचारवान साधु थे जो इसे आगमानुकूल नहीं मानते थे। उन्हीं को लक्ष्य में रखकर चूर्णिकार ने कहा था—यद्यपि साधु को गृहस्थों के सम्मुख पर्युषण कल्प का वाचन नहीं करना चाहिए किन्तु यदि पासत्वा (चैत्यवासी—शिथिलाचारी साधु) पढ़ता है तो सुनने में कोई दोष नहीं है। लगता है कि आठवीं शताब्दी के पश्चात् कभी संघ की एक रूपता को लक्ष्य में रखकर किसी प्रभावशाली आचार्य ने अपवाद काल की अन्तिम तिथि भादों शुक्ला चतुर्थी / पंचमी को पर्युषण (संवत्सरी) मनाने का आदेश दिया हो। युवाचार्य मिश्रीमलजी म० ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं कि “सामान्यतः संवत्सर का अर्थ है वर्ष। वर्ष

१. परि-सामस्त्येन उषणं-वसनं पर्युषणा-सुबोधिनी-टीका, कल्पसूत्र,

के अन्तिम दिन किया जाने वाला कृत्य सांवत्सरिक कहलाता है। वैसे जैन परम्परा के अनुसार आषाढी पूर्णिमा को संवत्सर समाप्त होता है, और श्रावणी प्रतिपदा (श्रावण वदी 1) को नया संवत्सर प्रारम्भ होता है। इसलिए कुछ व्यक्ति यह तर्क उठाते हैं कि सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आषाढी पूर्णिमा को ही करना चाहिए। यही वर्ष का अन्तिम दिन है। भाद्रपद शुक्ला पंचमी को जैन ज्योतिष की दृष्टि से तथा अन्य किसी भी दृष्टि से वर्ष का न अन्तिम दिन है और न प्रारम्भिक दिन।”

इसका समाधान यह है कि यद्यपि आषाढी पूर्णिमा संवत्सर का अन्तिम दिन माना गया है किन्तु शास्त्र में जो पर्युषण का विधान है वह आषाढी पूर्णिमा से पचास दिन के भीतर किसी पर्व तिथि अर्थात् पंचमी, दशमी, पूर्णिमा, आमावस्या आदि में मनाने का है, निर्दोष स्थान आदि की प्राप्ति न हो तो भी आषाढी पूनम से एक मास और बीस दिन बीत जाने पर तो अवश्य ही मनाना होता है। इस दृष्टि से देखें तो आषाढी पूनम से पचासवाँ दिन एक निश्चित दिन है, इस दिन पर्युषण निश्चित रूप से करना ही होता है, इस दिन का उल्लंघन करने पर प्रायश्चित आता है, अर्थात् अन्य सभी विकल्प के दिनों को पार कर लेने के बाद पचासवाँ दिन निर्विकल्पक दिन है, अतः इस दिन का सबसे अधिक महत्व है। यह सीमा का वह अन्तिम पत्थर है जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। आचार्यों ने इसी दिन को सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का दिन स्वीकार कर दूरदर्शिता का परिचय दिया ही है, साथ ही समस्त श्रमण संघ को एक सूत्र में बाँधे रखने का भी एक सुन्दर मार्ग दिखाया है। बीच के दिन तो अपनी-अपनी सुविधा के दिन हो सकते हैं जिस दिन जहाँ पर जिसको स्थान आदि की सुविधा मिले वह उसी पर्व

तिथि (पंचमी-दशमी-पूर्णिमा आदि) को पर्युषण कर ले, इससे संघ में बहुरूपता आ जाती है, विभिन्नता आती है, फिर मुंडे-मुंडे मतिभिन्ना वाली स्थिति आ सकती है, इसलिए भाद्रपद शुक्ला पंचमी अर्थात् आषाढी पूनम से पचासवें दिन पर्युषण करने अर्थात् सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने का निश्चित विधान है, जो संघ की एकता और श्रमण संघ की अनुशासनबद्धता के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।¹

यदि सम्पूर्ण जैन समाज की एकता की दृष्टि से विचार करे तो आज साधु-साध्वी वर्ग को स्थान उपलब्ध होने में सामान्यतया कोई कठिनाई नहीं होती है। आज सभी परम्परा के साधु-साध्वी आषाढ पूर्णिमा को वर्षावास की स्थापना कर लेते हैं और जब अपवाद का कोई कारण नहीं है तो फिर अपवाद का सेवन क्यों किया जावे? दूसरे भाद्रपद शुक्ल पक्ष में पर्युषण/ संवत्सरी करने से जो अपकाय और त्रस की विराधना से बचने के लिए संवत्सरी के पूर्व केश लोच का विधान था उसका कोई मूल उद्देश्य हल नहीं होता है। वर्षा में बालों के भीगने से अपकाय की विराधना और त्रस जीवों के उत्पत्ति की सम्भावना होती है। अतः उत्सर्ग मार्ग के रूप आषाढ पूर्णिमा को संवत्सरी/पर्युषण करना ही उपयुक्त है इसमें आगम से कोई विरोध भी नहीं है और समग्र जैन समाज की एकता भी बन सकती है। साथ ही दो श्रावण या दो भाद्रपद का विवाद भी स्वाभाविक रूप से हल हो जाता है।

यदि अपवाद मार्ग को ही स्वीकार करना है तो फिर अपवाद मार्ग के अन्तिम दिन भाद्रशुक्ला पंचमी को स्वीकार किया जा

सकता है। इस दिन स्थानकवासी और तेरापंथी समाज तो मनाता ही है, मूर्तिपूजक समाज को भी इसमें आगमिक दृष्टि से कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि कालकाचार्य की भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी की व्यवस्था अपवादिक व्यवस्था थी और एक नगर विशेष की परिस्थिति विशेष पर आधारित थी। आज चूंकि उसका कोई कारण नहीं, पुनः स्वयं निशीथचूर्णि से अनुसार चतुर्थी अपर्व तिथि है; अतः आषाढ़ पूर्णिमा और भाद्र शुक्ला पंचमी में से किसी एक दिन को पर्व का मूल दिन चुन लिया जावे। शेष दिन उसके आगे हो या पीछे, यह अधिक महत्त्व नहीं रखता है—सुविधा की दृष्टि से उन पर एक आम सहमति बनाई जा सकती है।

पर्युषण में पठनीय आगम ग्रन्थ :

वर्तमान में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में पर्युषण में कल्पसूत्र वाचन की परम्परा है। पहले पर्युषण (संवत्सरी) के दिन साधुगण रात्रि के प्रथम प्रहर में दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदशा) के आठवें अध्ययन पर्युषण कल्प का पारायण करते थे, जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने वर्तमान कल्पसूत्र का प्राचीनतम अंश बताया है। कालान्तर में इस अध्याय को उससे अलग कर तथा उसके साथ महावीर, पार्श्वनाथ, अरिष्टनेमि और ऋषभ के जीवनवृत्तों एवं अन्य तीर्थकरों के सामान्य उल्लेखों तथा स्थविरावली (महावीर से परवर्ती आचार्य परम्परा) को जोड़कर कल्पसूत्र नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की गई जो कि लगभग पन्द्रह सौ वर्षों से पर्युषण पर्व में पढ़ा जाता है। पर्युषण के अवसर पर जन साधारण के समक्ष कल्पसूत्र पढ़ने की परम्परा का प्रारम्भ वीर निर्वाण के 980 या 993 वर्ष बाद आनन्दपुर नगर में ध्रुवसेन राजा के समय हुआ था। जन साधारण

के समक्ष पढ़ने के उद्देश्य से ही उसमें तीर्थकरों के जीवन चरित्रों का समावेश किया गया था क्योंकि उस समय तक हिन्दुओं और बौद्धों में भी अपने उपास्य देवों के जीवन चरित्रों को जनसाधारण के समक्ष पढ़ने की प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी और जैन आचार्यों के लिए भी यह आवश्यक हो गया था कि वे भी अपने उपास्य तीर्थकरों का जीवनवृत्त अपने अनुयायियों को बतायें। ध्रुवसेन के पुत्रशोक को दूर करने का कथानक इस परम्परा के प्रारम्भ होने का एक निमित्त माना जा सकता है, किन्तु इसके पूर्व भी पर्युषण कल्प की आवृत्ति पर्युषण (संवत्सरी) के दिन मुनि वर्ग सामूहिक रूप से करता था तथापि निशीथ के अनुसार उसका गृहस्थों के सामने वाचन निषिद्ध था। निशीथ सूत्र में मुनियों को गृहस्थों एवं अन्य तिथियों के साथ पर्युषण करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त (अर्थात् 120 दिन के उपवास का दण्ड) बताया गया है— ‘जे भिक्खु अण्णउत्थिएणवा गारत्थिएणवा पज्जोसवेइ पज्जोसवंतं वा साइज्जइ-निशीथ’ (10।47)। सम्भवतः यह निषेध इसलिए किया गया था कि पर्युषण कल्प का वाचन गृहस्थों एवं अन्य तैर्थिकों के समक्ष करने पर उन्हें मुनि के वर्षावास सम्बन्धी आचार नियमों की जानकारी हो जायेगी और किसी को उसके विपरीत आचरण करते देखकर वे उसकी आलोचना करेंगे—इससे संघ की बदनामी होगी। यह भी सम्भव है निशीथ की रचना के समय तक मुनि जीवन में शिथिलाचार प्रविष्ट हो गया हो, अतः जनसाधारण के समक्ष मुनि आचार का विवेचन करना उचित नहीं समझा जाता। इस निषेध का एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि पर्युषण कल्प की आवृत्ति के साथ सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के अवसर पर साधुओं को उनके विगत वर्ष के अतिचारों या दोषों का प्रायश्चित्त भी दिया जाता था। अन्य

तैथिकों या गृहस्थों के उपस्थिति रहने पर प्रथम तो साधु अपने अपराधों या दोषों को स्वीकार ही नहीं करेंगे—साथ ही सबके समक्ष दण्ड दिये जाने पर उनका बदनामी होगी। अतः सांवत्सरिक, प्रतिक्रमण और पर्युषण कल्प का जनता के समक्ष वाचन पहले निषिद्ध था। किन्तु कालान्तर में उस समाचारी (आचार संबंधी भाग) को गौण करके तथा उसमें कथा भाग इतिहास को जोड़कर गृहस्थों के समक्ष उसके पठन की परम्परा प्रचलित हो गई जो कि आज 1500 वर्षों से निरन्तर प्रचलित है।

श्वेताम्बर समाज की स्थानकवासी और तेरापंथी परम्पराओं में कल्पसूत्र के स्थान पर अन्तकृतदशांग के वाचन की प्रथा है। इसका प्रारम्भ स्थानकवासी परम्परा के उद्भव के साथ ही हुआ है। अतः यह प्रथा 400 वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। यद्यपि मूल कल्पसूत्र में ऐसा कुछ नहीं है जो स्थानकवासी परम्परा के प्रतिकूल हो, फिर भी इस नवीन प्रथा का प्रारम्भ क्यों हुआ यह विचारणीय है। प्रथम अपनी भिन्नता रखने के लिए इसका वाचन प्रारम्भ किया गया हो। दूसरे इसे इसलिए चुना गया हो कि पर्युषण के आठ दिन माने गये थे और यह अष्टम अंग था तथा इसमें आठ ही वर्ग थे। तीसरे यह कि कल्पसूत्र की अपेक्षा भी इसमें तप-त्याग की विस्तृत चर्चा थी जो आडम्बर रहित तप-त्यागमय आचारप्रधान स्थानकवासी परम्परा के लिए अधिक अनुकूल थी। चौथे कल्पसूत्र का जिन टीकाओं के साथ वाचन हो रहा था। उनमें मूर्तिपूजा आदि संबंधी ऐसे प्रसंग थे जिनका वाचन करना उनके लिए सम्भव नहीं था। अतः उन्हें एक नये आगम का चुनाव ही अधिक उपयुक्त लगा हो। अन्तकृतदशांग में प्रथम पाँच वर्गों में भगवान अरिष्टनेमि के काल

के 41 त्यागी पुरुषों एवं 10 महिलाओं का जीवनवृत्त है। शेष तीन वर्गों में महावीरकालीन 16 त्यागी पुरुषों एवं 23 महिलाओं का जीवनवृत्त है जिन्होंने कटोर तपश्चर्याएँ की और अपने अन्तिम समय में कैवल्य को प्राप्त कर मोक्षरूपी लक्ष्मी का वरण किया।

दिगम्बर परम्परा में इन दसपर्व दिनों में तत्त्वार्थ के दस अध्यायों के वाचन की परम्परा रही है जो दिन की संख्या के साथ संगतिपूर्ण है। तत्त्वार्थ जैन तत्त्वज्ञान का साररूप ग्रन्थ होने से पर्वदिन में इसका वाचन उपयुक्त ही है। इसी प्रकार दस धर्मों पर प्रवचन भी नैतिक चेतना के जागरण की दृष्टि से उचित है।

यद्यपि विभिन्न परम्पराओं में पर्युषण में पठनीय ग्रन्थों में से किसी का भी महत्त्व कम नहीं है किन्तु जैन संघ की एकात्मकता की दृष्टि से किसी समणसुतं जैसे सर्वमान्य ग्रन्थ के वाचन की परम्परा भी प्रारम्भ की जा सकती है।

पर्युषण (संवत्सरी) के आवश्यक कर्तव्य :

1. तप/संयम :

निशीथ के अनुसार पर्युषण के दिन कणमात्र भी आहार करना वर्जित था।¹ निशीथ भाष्य में स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि जो साधु पक्खी को उपवास, चौमासी को बेला और पज्जोसवण (संवत्सरी) को तेला नहीं करता है तो उन्हें क्रमशः मासगुरु, चतुर्लघु और चतुर्गुरु का प्रायश्चित आता है। यद्यपि चूर्णि में यह मान लिया गया है कि किसी परिस्थिति विशेष के कारण पर्युषण में आहार करता हुआ भी शुद्ध है¹ साधु-साध्वी वर्ग के साथ ही श्रावक वर्ग में पर्युषण (संवत्सरी) को उपवास करने की परम्परा थी। निशीथ चूर्णि में चण्डप्रद्योत और उदयन की कथा से यह बात सिद्ध

होती है (निशीथचूर्णि, भाग 3, पृष्ठ 147)। इस प्रकार पर्युषण पर्व में तप, साधना एक आवश्यक कर्तव्य है। तप का मूल उद्देश्य अपनी इन्द्रियों पर संयम रखना है और पर्युषण संयम-साधना का पर्व है।

2. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण/वार्षिक प्रायश्चित

पर्युषण का दूसरा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य सांवत्सरिक प्रतिक्रमण वार्षिक प्रायश्चित है। विगत वर्ष में हुए व्रतभंग, दोषसेवन, आनाचार या दुराचारों का अन्तर्निरीक्षण कर, उनकी आलोचना कर, उनके लिए प्रायश्चित ग्रहण करना यह पर्युषण का दूसरा आवश्यक कर्तव्य है। श्रमण, श्रमणी, श्रावक एवं श्राविका सभी के लिए यह आवश्यक है।

3. कषायों का उपशमन/क्षमायाचना

जैन साधना निर्ग्रन्थ भाव की साधना है, जीवन से काम-क्रोध की गांठों का विसर्जन है, राग-द्वेष से ऊपर उठना है। चाहे श्रावकत्व हो या श्रमणत्व इसी बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति की क्रोध, अहंकार, कपट और लोभ की वृत्तियाँ शिथिल हों। मन तृष्णा एवं आसक्ति के तनावों से मुक्त हो। पर्युषण इन्हीं की साधना का पर्व है। कल्पसूत्र में कहा गया है—यदि क्लेश उत्पन्न हुआ हो तो साधु क्षमायाचना कर लें। क्षमायाचना करना, क्षमा प्रदान करना, उपशम धारण करना और करवाना यह साधु का आवश्यक कर्तव्य है क्यों जो उपशम (शांति) धारण करता है वही (भगवान की आज्ञा का) आराधक होता है। जो ऐसा भी नहीं करता वह विराधक होता है क्यों कि उपशम ही श्रमण जीवन का सार है (उपसम सारं खु

१. पञ्जोसवणाए अइ अद्धमं न करेइ तो चउगुरु, कारणे हि आहारंतो सुद्धो

सामण्णं)¹ निशीथचूर्णि में कहा गया है कि यदि अन्य समय में क्लेश कटुता की उस समय क्षमायाचना न की गई हो तो पर्युषण में अवश्य कर लेवें।²

इस प्रकार पर्युषण तप, संयम की साधना के साथ कषायों के उपशमन का पर्व है। क्षमायाचना एक ऐसा उपाय है जो कटुता के मल को धोकर हृदय को निर्मल बना देता है।

(समाप्त)

१. कल्पसूत्र, २८६

२. कसाय कडताए न खामितं तो पञ्जोसवणा सु अवस्सं विओसवेयव्यं।

आनंदघन और यशोविजय

कुमारपाल देसाई

इस प्रेम के कारण रोम-रोम प्रियतम को पुकारता है। यह वेदना ऐसी है कि अंतर को मथनी मथती है और बाहर उसे कोई समझ नहीं सकता। आनंदघनजी ने भी प्रेम की कथा को 'अकथ कहानी' कहा है। इन दोनों साधकों ने माया का वर्णन किया है। कबीर तो माया और छाया (परछाई) को एक समान बताते हैं। भागते हुए आदमी के पीछे माया परछाई की तरह उसके साथ चलती रहती है लेकिन यदि मनुष्य माया से टक्कर ले तो वह भाग जाती है। माया मोहिनी ने अच्छे से अच्छे विद्वानों और सज्जनों को मुग्ध किया है और उसने आदमी और भगवान के बीच अंतर उपस्थित किये हैं। इसीलिए सत्यज्ञान प्राप्त करके माया के मोहपाश से मुक्त होनेवालो के लिए कबीर कहते हैं :

“माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि माहिं परंत,
कोई एक गुरुज्ञान से उबरें साधु संत।”

(मायारूपी दीपक है और मनुष्य उस भ्रम में धोखा खाकर माया-दीपक में कूद पड़ता है। सच्चे गुरु के पास से ज्ञान प्राप्त करके उससे बच जानेवाले साधु संत तो बिरले ही होते हैं।)

आनंदघन कहते हैं कि “आतमकालिका” जागृत होने से उनकी मति (बुद्धि) आत्मा को मिलने लगी हैं और उन्होंने मायारूपी दासी और उनके परिवार को घेरकर अंकुश में ले लिया

है। माया में फँसी चेतना अपनी अवदशा बताता है। यह चेतन प्रकृति से अनावृत होने के बावजूद कर्मावृत हो गया है। उसका प्रकाश अंदर घुट रहा है। अपनी शुद्ध चेतना का उसे खयाल है। यह उसके हृदय में ही स्थित है, फिर भी माया के कारण यह चेतना प्रकट नहीं हो सकती। चेतन संसार के मोह राग में त्रस्त बना है। वह परभाव में रमण करता है। स्थूल इंद्रियसुखों में मौज उड़ाता है। शरीर, धन और यौवन की बहुत बड़ी हानि होती है। दिनों दिन उसकी अपकीर्ति बढ़ती जाती है और शराफत छोड़कर गलत रास्ता अपनाने के कारण उनके आदमी भी उसकी नहीं सुनते। माया के ऐसे भ्रमजाल को चित्रित करते हुए कवि आनंदघन कहते हैं :

“परधर भमतां स्वाद किशो लहे? तन धन यौवन हाणः

दिन दिन दीसे अपयश वाधतो, निज जन न माने काण।”

बालुड़ी, 3

इसी तरह से कवि आनंदघन एक पद में तन, धन और जवानी को क्षणभंगुर कहते हैं और ये प्राण तो पल भर में उड़ जायेंगे, तन जायेगा, फिर धन किस काम का? अतः जन्म-जन्म तक सुख देनेवाली भलाई करने के लिए कवि कहते हैं। व्यापक चिंतन रखनेवाले यह मस्त कवि मानों जनसमुदाय को स्नेह से जागृत करता हो वैसा कहता है।

“बेहेर बेहेर नहि आवे, अवसर बेहेर बेहेर नहि आवे;

ज्युं जाणे त्युं कर ले भलाई, जनम जनम सुख पावे,

अवसर;”।

(बार बार अवसर नहीं आता भाई, बार बार अवसर नहीं आता इसलिए ज्यों ही पता चले, भलाई कर लीजिए, आप जन्म-जन्म तक सुख पाइए।)

कबीर और आनंदघन दोनों के पदों में हिन्दू और मुसलमान के ऐक्य की बात मिलती है। कबीर राम और रहीम एवं केशव और करीम के बीच कोई भेद नहीं देखते और आनंदघन भी कबीर के उसी धार्मिक औदार्य और परम सत्य को प्राप्त करने के लिए रहस्यवाद को हूबहू चित्रित करते हैं इसमें राम, कृष्ण या महादेव को कोई व्यक्ति नहीं मानते। राम अर्थात् राजा दशरथ का पुत्र नहीं, लेकिन आतमराम में रमण करे वह राम। जीवमात्र पर दया करे वही रहीम। कृष्ण अर्थात् कंस को वध करने वाला नहीं, परन्तु ज्ञान पर पड़े आवरण आदि कर्मों को नष्ट करे वह कृष्ण। शंकर वे नहीं जो कैलास निवासी है अपितु जो निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करता है वह महादेव। जो आत्मस्वरूप को स्पर्श करता है, छू लेता है ये पार्श्वनाथ और जो चैतन्य आत्मा की सत्ता को पहचाने वे ब्रह्मा। इस तरह आनंदघन तो कहते हैं कि उन्होंने इसी रीति से परमतत्त्व की उपासना की है और यह परमतत्त्व वह ज्ञाता, दृष्टा और चैतन्यमय है। कबीर के बिल्कुल समकक्ष खड़ी रह सके ऐसी यह आनंदघन की समर्थ बानी है।

राम कहो हरिमन कहौ कोउ, कान्ह कहौ महादेव री;
 पारसनाथ कहौ कोऊ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयेव री। राम. 1
 भजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रुपरी;
 तैसे खंड कल्पना रोपित, आप अखंड सरूप री। रीं. 2
 निजपद रमै राम सो कहिये, रहम करे रहमान री,
 करषै करम कान्ह सो कहिये, महादेव निर्वाण री। राम. 3
 परसै रूप सौ पारस कहिये, ब्रह्म चिन्है सो ब्रह्म री,
 इह विध साध्यो आप आनंदघन, चैतनमय निःकर्म री। राम. 4

रहस्यवाद में परमात्मा की जो विरल अनुभूति होती है, उस अनुभूति में समय, अहमतत्त्व और ममत्व की भावना का लोप होता है, उस समय ध्याता और ध्येय दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। इस

अपूर्व अद्वैत की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए शब्द समर्थ नहीं है, लेकिन संत हृदय में उसकी अभिव्यक्ति की व्याकुलता इतनी बढ़ जाती है कि उस परम तत्त्व की अनुभूति वाणी में खुद-ब-खुद उतर आती है। उस अगोचर और अगम्य तत्त्व को शब्दों में उतारने का प्रयास होता है। परमतत्त्व की यह अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति में विलक्षण होती है, जब अनुभवकर्ता और अनुभूत चीज एक रूप बनते हैं, तब सर्वत्र अखण्ड स्वरूप के दर्शन होते हैं। कबीर इस मधुर अनुभूति को व्यक्त करते हुए कहते हैं :

“लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल;
 लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।”

जबकि आनंदघन कहते हैं कि प्रियतम से मिलन आत्मा और परमात्मा के साथ का ऐक्य, फूल के चारों तरफ चक्कर लगाते भौरें जैसा नहीं है, बल्कि पुष्प में निहित पराग जैसा है। और जब यह मिलन होता है तब कबीर को तेरा सांई तुझमें का अनुभव होता है। तो आनंदघन के अंतर में अनुभवरस की लाली प्रकट होती है। कवि आनंदघन मनोरम रूपक के द्वारा इस अनुभवलीला का निरूपण करते हुए कहते हैं :

“मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि परजाली;
 तन भाठी अवटाई पीये कस, जागे अनुभव लाली।” आशाउ

कबीर की तरह आनंदघन ने भी अवधू और साधू को सम्बोधित करके अपना उपदेश दिया है। इस तरह से आनंदघन ने कबीर की तरह या रहस्यवादी कवियों की तरह प्रणय की परिभाषा में आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध प्रकट किया है। इसी तरह राम कहो रहिमान कहो में आनंदघन रहस्यवादी कवि की क्षणभंगुरता बताते हैं।

वे देह को कच्चे कुंभ की तरह बताते हैं और मनुष्य उस कच्ची देह और चंचल मन के सहारे सब चिरकाल स्थित रहनेवाला है ऐसा मानकर गर्व से सीना फुलाकर फिर रहा है। वह माया के मोह में मस्त है। लेकिन कबीर कहते हैं कि उसे ऐसे घूमता-फिरता देखकर महाकाल हँसता रहता है और फिर उसकी हालत कैसी होती है?

“हम जानें थें खायेंगे बहुत जमीं बहु माल,

ज्यों का त्यों हि रह गया पकरि लै गया काल।”

(हम तो यह मानते थे कि बहुत जमीन-जागीर है, बेशुमार दौलत है, निश्चिंत होकर, बुढ़ापे में उसका उपभोग करेंगे। परन्तु हुआ क्या? काल झपट्टा मारकर उड़ गया और सबकुछ ज्यों का त्यों धरा रह गया।) गुजरते हुए काल के सामने कबीर की तरह ही आनंदघन एक सुन्दर कल्पना से मनुष्य को जगाते हैं:

“क्या सोवै उठ जाग बाउरै

अंजलि जल ज्यूं आयु घटत हैं,”

देत पहरिया धरिये धाउ रे।

छंद-चंद नागिंद मुनि चले, को राजा पति साह राउ रे।

कबीर और आनंदघन दोनों ने जड़-बाह्याचार का विरोध किया उसी तरह वे दोनों पुस्तकीय ज्ञान से प्रभु प्राप्ति के मार्ग के चाहनेवालों का विरोध करते हैं। शास्त्रज्ञान वह एक दीपक है जब कि आत्मज्ञान तो रत्न है। दीपक के प्रकाश से रत्न की खोजकर सकते हैं, लेकिन दीपक ही रत्न है ऐसा माना नहीं जा सकता। शास्त्रीय ज्ञान से आगे बढ़कर साधक को आत्मज्ञान पाना है। इसीलिए कबीर और आनंदघन कोरे और अनुभवरहित शास्त्रज्ञान की आलोचना करते हैं, ऐसा ही पंडितों के ज्ञान के विषय में भी है। ध्यान से विमुख ऐसे ज्ञानी की हालत का बयान करते हुए कबीर कहते हैं :

“ज्ञानी भूले ज्ञान कथि निकट रह्यो निज रूप,
बाहर खोजें बापुरे भीतर वस्तु अनुप।।”

(ज्ञानी विचारा ज्ञान की बातों के भँवर में भटक गया था। अपना सच्चा-असली स्वरूप अपने ही पास था। जो अनुपम चीज उसके भीतर थी उसकी तलाश में बेचारा कस्तूरीमृग की तरह बाहर भटक रहा था।)

संत कबीर की तरह आनंदघन भी शास्त्र के बदले अनुभव के रसरंग में लीन हैं।

आनंदघन ‘अवधू क्या मांगू गुणहीना’ पद में कहते हैं कि मैं वेद नहीं जानता, किताब नहीं जानता, विवाद करने के लिए मैं तर्क नहीं जानता, कविता के लिए छंद रचना भी नहीं जानता। आपका जाप नहीं जानता। “बस मैं सिर्फ तेरे द्वार पर खड़ा रहकर तेरा नाम जपना जानता हूँ।”

मध्यकालीन रहस्यवादी कवियों में ‘अवधू’ ‘निरंजन’ और ‘सोहं’ जैसे शब्दों के प्रयोग देख सकते हैं। संत कबीर की बाणी में तो ‘अवधू’ शब्द बार-बार दीखता है, आनंदघन के पदों में भी ‘अवधू’ शब्द का प्रयोग मिलता है। इस ‘अवधू’ शब्द का प्रयोग आनंदघनजी ने अपने पदों में साधु या संत के अर्थ में किया है। वे कहते हैं :

“साधो भाई! समता रंग रमीजै, अवधू ममता संग न कीजै।”

इसी तरह से आनंदघन ‘निरंजन’ शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में करते हैं। जो समस्त व्यर्थ आशाओं का हनन करके ध्यान के द्वारा अज्ञपा जप की रट लगाता है, वही आनंद के घन को, निरंजन को पा सकता है। यह निरंजन सकल भय को हरनेवाला है, कामधेनु है और इसीलिए अन्यत्र भटकने के बदले निरंजन के शरण में जाना उसे ज्यादा पसंद है।

“अब मेरे पति गति देव निरंजन
भटकूँ कहाँ, कहाँ सिर पटकूँ कहाँ करूँ जन रंजन
खंजन दृगन लगाऊँ, चाहूँ न चितवन अंजन
संजन-घट अंतर परमात्म सकल-दूरति भय भंजन
एह काम एह काम घट एही सुधारस मंजन
आनंदघन प्रभु घट बन केहरि काम मतंग गज गंजन।”

आनंदघनजी के पदों में हठयोग की साधना का प्रभाव देखने को मिलता है। ‘अवधू’ के संबोधन से उनके अनेक पदों में इसी साधना की बात की है। ‘आत्मानुभव और देहदेवल मठवासी’ की बात भी आनंदघन की कुछ साखियों में मिलती है। आनंदघन कहते हैं कि इड़ा-पिंगला के मार्ग का परित्याग करके ‘सुषुम्ना घरवासी’ होना पड़ता है। ब्रह्मरंध्र के मध्य में श्वास पूर्ण होने के बाद नाद सुनाई देता है और साधक ब्रह्मानुभूति का साक्षात्कार करने की स्थिति को प्राप्त होता है। डॉ. वासुदेवसिंह तो ऐसी संभावना व्यक्त करते हैं कि कबीर का कोई शिष्य या अनुयायी भी साधना की उस उच्च सीढ़ी और काव्य की उस उच्च कक्षा तक पहुँचा नहीं है, जहाँ संत आनंदघन और उनके काव्य पहुँच सके हैं।

कबीर की तरह आनंदघन भी अगम पियाला की मस्ती आलेखित करते हुए कहते हैं :

“अगम पियाला पियो मतवाला, चीन्ने अध्यात्म वासा,
आनंदघन चेतन है खेले, देखे लोक तमासा। आशा।”

कवि आनंदघन अध्यात्ममत में लीन लोगों को अगम प्याला पीने के लिए आमंत्रण देते हैं और उसके लिए अध्यात्म का निवास कहाँ है यह ढूँढने के लिए कहते हैं और जब अगम प्याला पीने का

आनंद प्राप्त होता है, तब संसार-प्रपंच प्रत्यक्ष दीखता है। इस तरह से दोनों ने ‘विरला अलख जगावे’ का बोध दिया है; लेकिन दोनों की शैली भिन्न है।

कबीर के पदों में उपदेशों का निरूपण है तो आनंदघन के पदों में सिद्धांत है। कबीर के पद मानवचित्त को बाह्य सरोकारों से मुक्त करके अन्तर्मुख होने के लिए प्रेरित करते हैं जबकि आनंदघन का उपदेश व्यक्ति को योग और अध्यात्म की गहराई का अनुभव कराता है। कबीर में व्यावहारिक दृष्टि है और उसमें से मिलते दृष्टान्तों की अधिकता है, जबकि आनंदघन में योगदृष्टि है। कबीर के पद आम आदमी को छू लेते हैं, जबकि आनंदघन के पद योग और तत्वज्ञान से भरपूर होने के कारण उन्हें समझने के लिए विशेष सज्जता की आवश्यकता होती है।

कबीर के पदों में आम जनता के हित को लक्ष्य में रखा गया है, जबकि आनंदघन के पदों में व्यक्ति को भक्ति के लिबास में आत्मा की गहराई में ले जाने का प्रयास है। कबीर के पदों में कही भी गुजराती भाषा का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता जबकि आनंदघन के पद राजस्थानी भाषा में होने के बावजूद इनमें गुजराती भाषा का प्रभाव लक्षित होता है। उपदेशक का आवेश इनमें दिखाई देता है। जबकि आनंदघन की शैली आत्मज्ञान की पर्त-दर-पर्त को खोलकर दिखानेवाली है। कबीर में सत्यार्थी सन्त का उत्कट अभिनिवेश देखने को मिलता है, जबकि आनंदघन में सत्यार्थी बैरागी आत्मा की उत्कृष्ट अनुभूति दृष्टिगत होती है। कबीर को समझने के लिए रहस्यवादियों की परम्परा को जानना आवश्यक है, जबकि आनंदघन

की थाह पाने के लिए रहस्यावादियों की परम्परा के अतिरिक्त जैन परिभाषा जानने की अपेक्षा रहती है।

इस तरह से कबीर और आनंदघन के पदों में उनका व्यक्तित्व प्रकट होता है। दोनों का हृदय कवि का, मन योगी का और मिज़ाज बादशाह का था। उनके पदों में मस्ती की झलक है। कानों में निरंतर गूँजनेवाला श्रुतिपटुत्व है। पदों का उन्नत और आलौकिक भाव, चोटदार रूपक, गहनमधुर भाषा और गहरा रहस्यगर्भीत चिंतन काव्यरसिकों को आनंद में तल्लीन कर देता है। आनंदघन के पदों की व्यवहारिक जीवन की नकद कल्पना नहीं है, इसके बावजूद आनंदघन के पद अपनी संख्या के अनुपात में ऊँची गुणवत्ता रखते हैं। उसमें विकसित कमल जैसा आत्मज्ञान, भावों का लालित्यपूर्ण आलेखन रहस्यगर्भीत अनुभूति का वेधक निरूपण, संकुचितता के स्थान पर व्यापक भावनाओं की उज्ज्वलता-इन सबको देखते हुए इन पदों में अनुभवार्थी बैरागी कवि आनंदघन की सर्वोच्च अवस्था का प्रकटीकरण हुआ है। कवि ने अनुभवलाली के आत्मसाक्षात्कार से अगम पियालो पिया है और परमतत्त्व में लीन होकर अमरत्व के अनुभव की मस्ती का आनंद लिया है, और उसे गाया भी है।

मीरां और आनंदघन

मीरां और आनंदघन के पद साहित्य में प्रभु-मिलन की तीव्र छटपटाहट और उच्च आध्यात्मिक जीवन के संस्कार प्रकटित होते हैं। मीरां की कृष्णभक्ति का जन्म जीवन की किसी आघातजनक घटना से यकायक नहीं हुआ है, उसी तरह आनंदघन की वैराग्यवृत्ति का प्रादुर्भाव भी किसी सांसारिक घटना की चोट से नहीं हुआ है।

इन संतों के जन्मजात संस्कारों में ही वैराग्य के बीज पड़े हुए होते हैं, जिनका समय के साथ-साथ विकास होता है।

मीरां और आनंदघन के संदर्भ में एक साम्य लक्षित होता है। मेड़ता की भूमि पर मीरां का जन्म हुआ और लगभग सवा सौ साल के बाद उसी भूमि पर आनंदघन ने भ्रमण किया होगा। जिस स्थान पर मीरां की प्रेमलक्षणा भक्ति का सोता स्वयंभू फूटा, वही भूमि आनंदघन की कर्मभूमि बनी।

इन दोनों संतों के पद स्वयं स्फुटित हैं। कहीं भी ये सायास नहीं प्रतीत होते। मीरां ने भक्ति और आनंदघन ने योग के रहस्य को आत्मसात् किया है और उसके बाद दोनों ने मन के गूढ़तम भावों को प्रेरणादायी उत्साह से भाववाही वाणी में अभिव्यक्त किया है या यूँ कहें कि वे अभिव्यक्त हो गये हैं, तो अधिक उपयुक्त होगा।

मीरां के लिये जिस तरह कृष्णभक्ति स्वाभाविक थी, उसी तरह से आनंदघनजी के लिये योग; वह किसी चर्चा या अध्ययन का नहीं, बल्कि अनुभव में रचा बसा विषय था। इसीलिए वे योग और आध्यात्मिक तत्त्वों को रसिक और उत्कट वाणी में अपनी कविता में निरूपित कर पाये। मीरां की तरह आनंदघन के पदों में अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की वेधकता प्रतीत होती है। विरहिणी मीरां ने पियामिलन के लिये तड़पते, अकुलाते, छटपटाते हुए वियोग के आंसू बहाये हैं। मीरां का रिहगान मीरां का ही है, उसका कोई सानी नहीं है। मीरां के पदों में प्रेमाकुल विरहिणी की वेदनापूर्ण चीख है। प्रेम की वेदी पर सर्वस्व समर्पण कर चुकी नारी की भाँति कृष्णविरह की वेदना को व्यक्त करती हैं।

मैं विरहिणी बैठी जागूँ, जगत सब सोवे री आली...

विरह की इस पीड़ा को आनंदघनजी ने भी इतनी ही तीव्रता और उत्कटता से व्यक्त किया है। मीरां जहाँ गिरधर नागर के लिये तरसती हैं, वहीं आनंदघन अपने मनमेलु का इन्तजार करते हुए सोचते हैं :

मुने मारो कब मिलशे मनमेलु

मनमेलु विण केलि न कलीए, वाले कवल कोई वेलुं

मन के मिलाप के बिना का खेल किसी मूर्ख के द्वारा रेत के निवाले बनाने जैसे है। आनंदघन तो कहते हैं कि जो मनुष्य इस मिलाप के साथ अंतर बनाये रखता है, वह इन्सान नहीं, पत्थर है। मनमेलु से मिलने की छटपटाहट इतनी अधिक है कि मीरां ने जैसे लोकलाज छोड़ दी थी, उसी तरह आनंदघन भी पति को पाने के लिये बड़-बूढ़ों की मर्यादा छोड़कर दरवाजे पर खड़े-खड़े उसकी राह देखते हैं उसके बिना तड़पते हैं, बिलखते हैं। आँखें उसी राह पर बिछी रहती हैं, जिस पर से पति आनेवाले हैं। शरीर के वस्त्राभूषण उन्हें जरा भी नहीं सुहाते। कीमती आभूषण जहर जैसे लगते हैं। अंतर की इस तपन को कोई वैद्य मिटा सके ऐसा नहीं है। एस श्वासोच्छ्वास की अवधि जितना भी सास मेरा विश्वास नहीं करती और निर्लज्ज तृष्णा-ननद सुबह से लड़ती-झगड़ती रहती है तन की इस वेदना को तो तभी शांति मिलेगी जब आनंदघन की अमृतवर्षा हो।

सास विसास उसास न राखें ननदी नी

गोरी भोरी लरीरी

और तबीब न उपति बुझावे

आनंदघन पीयुब झरीरी।

पहले दूसरों की विरह वेदना का वह उपहास करती थी, लेकिन जब खुद विरह वेदना के बाणों से घायल हुई तो जाना कि उसकी पीड़ा कितनी मर्मन्तक होती है। पूरे शरीर में शूल की सी चुभन होती है। मन तो इस विरह से लगातार मचलता रहता है। इन विदारक अनुभव के बाद ही मैं सभी को कहती हूँ कि कोई प्रीत न करना।

हंसती तब हूँ विरानिया, देखी तन मन छीज्यो हो;

समजी तब एती कही, कोई नेह न कीज्यो हो।

मीरां के जैसी भाव-दीप्ति और व्यथा की चोट आनंदघन के इन पदों में दिखायी देती है। होली तो फाल्गुन महीने में आती है पर कवि आनंदघन कहते हैं कि यहाँ तो निसदिन अन्तर्मन में वेदना की होली जलती रहता है और वह इस शरीर को राख बनाकर उड़ा देती है। इस तीव्रतम वेदना को निरूपित करने के लिये कवि आनंदघन ने इन निम्नलिखित पंक्तियों में कैसी सुन्दर कल्पना के द्वारा विरह को मूर्तिमंत रूप दे दिया है?

फागुण आचर एक निसा, होरी सीरगानी हो;

मेरे मन सब दिन जरै, तन खाख उड़ानी हो।

यह विरह सुमति का विरह है। अपने चेतनजी के लिये वह तलसती है। सुमति अपने अनुभव मित्र को अपनी यह विरह वेदना बताती है। चातक जिस तरह पीउ-पीउ रटता है वैसे ही यह पति का रटन लगाये रहती है। उसका जीव पति के प्रेम रस पीने का प्यासा है। मन और तन दोनों ही पति के इन्तजार में अस्वस्त हो गये हैं और उस वियोगावस्था को आनंदघन अनुपम कल्पना लीला के द्वारा आलेखित करते हुए कहते हैं:

**निस अंधियारी मोही हसे रे, तारे दाँत दिखाई,
भादु कादु में कियो प्यारे, असुवन धार बहाई।**

अंधेरी रात, सितारें रूपी दाँतों को चमकाते हुए वह मेरे सामने हँस रहा है। रात को नींद कहाँ से आयेगी। यह वियोगिनी तो आँसू बहा रही है और इतने आँसू बहाये कि भावों का महीना कीचड़मन हो गया है। मीरा ने **विरह की फांसड़िया** की बात कही है, तो आनंदघन भी सुमति की विरह-व्यथा को आलेखित करते हुए कहते हैं :

**विरह व्यथा कछु ऐसी व्यापती, मानुं कोई मारती बेजा,
अंतक अंत कटालुं लेगो प्यारे, माहे जीव तुं ले जा।।**

विरह की पीड़ा इस तरह से छा जाती है कि मानों हृदय को तीक्ष्ण बाणों से वेध रहा हो। अरे ओ विरह, तुम कब तक ऐसी पीड़ी दोगे? यदि तुम्हारी यही मरजी है, तो मेरी जान ही ले लो। वियोग व्यथा की छटपटाहट को कवि ने किस खूबी से शब्दों में चित्रित किया है। आनंदघन के पद पढ़ते ही **दरद दिवानी** मीरां की याद मन में अंकित हो जाती है।

संसार के तुच्छ सुख को त्याग देने के लिये मीरां और आनंदघन दोनों ही कहते हैं। मीरां ने संसार सुख को **झांझवाना नीर** (मृगतृष्णा) के समान तुच्छ और **परणी ने रंडावुं पाछुं** (विवाह करके विधवा होना) होने के कारण कच्चा सुख माना है। संसार के ऐसे कई कटु अनुभव मीरां को अपने जीवन में हुई हैं। संसार का कच्चा रंग तो उड़ ही जानेवाला है। कवि आनंदघन भी ममता की संगत में डूबे मनुष्य को जागने के लिये कहते हैं। शुद्ध चेतना अपने पति चेतन को संसार की मोह माया में फँसा हुआ है, आनंदघन के

अनुसार वह अजागल स्तन से दूध प्राप्त की आशा में व्यर्थ परेशान हो रहा है।

**अनुभव नाथकुं क्युं न जगावे,
ममता संग सो पाय अजागल, थन तें दूध कहावे।**

संसार के स्वप्नवत् सुख में लीन मनुष्यों को आनंदघन हीरा को छोड़कर मायारूपी कंकर पर मोहित होने वाले मानते हैं। उनकी दसा बहुत खराब होती है। जिस तरह नरपशु यकायक आक्रमण करके बकरी को मार डालता है, उसी तरह से ऐसे मनुष्यों को काल खा जाता है। कवि कहते हैं :

**सुपन को साच कही माचत
राहत छाह गमन बदरी री
आई अचानक काल तोपची
गहेग ज्युं नाहर बकरी री।**

सांसारिक सुख को त्यागने वाली मीरां को कैसी-कैसी सांसारिक विपत्तियों को झेलना पड़ा था। ससुराल और नैहर छोड़कर उसने काशी, वृंदावन की राह ली और अन्ततः द्वारिका में निवास किया। जगत और भक्त के बीच सनातन द्वंद्व होता चला आया है। इसलिए मीरां कहता हैं कि जिसके घर अतिथि के रूप में संत का आगमन नहीं होता उसके घर किसलिए जाना? अपनी सांसारिक स्थिति को व्यक्त करते हुए मीरां गा उठती हैं:

**सासरो अमारो अग्नि नो भड़को, सासु सदानी शूणी रे,
एनी प्रत्ये मारुं कांई न चाले रे एने आंगणिये नाखुं, पूणी रे।**

(मेरा ससुर आग की ज्वाला है और सास हमेशा से ही कुत्ती है उनके आगे मेरा कोई वश नहीं चलता। मैं हमेशा अपनी अंगुली छोटी करके ही रखती हूँ अर्थात् मैं हमेशा अतिसीमित दायरे में ही रहती हूँ।)

सास, ससुर, जेठानी, देवरानी, ननद और पड़ोसन सभी मीरां को परेशान करते हैं, परन्तु मीरां तो इन सबकी परवाह किये बिना अपनी ही मस्ती में आँगन में **थे थे** नाचती हैं। कवि आनंदघन भी सांसारिक संबंधों को इसी तरह आलेखित करते हैं। वे कहते हैं कि चेतन जो की नारी के मोह में अंधा हो गया है, उसके क्रोध और मान (घमण्ड) नाम के दो बेटे हैं जिनको लोग थप्पड़ मारते हैं। उसका लोभ नामक दामाद हैं और माया नाम की बेटी हैं, और इस तरह उसका यह परिवार बढ़ता ही जाता है।

क्रोध, मान बेटा भये हो, देत चपेटा लोक;

लोभ जमाई माया सुता हो, एह वढ्यो परि मोह।

इसी तरह कवि आनंदघन कहते हैं कि माता-पिता रिश्तेदार या परिजन की बात तो बिलकुल बेकार लगती है। जिसने एक बार सत्संग के र का आस्वादन कर लिया है, उसे फिर कोई रस नहीं भाता। संसार के रिश्तेदार इस रस को समझ नहीं पाते। इसीलिये उसकी निंदा करते हैं। कवि कहते हैं:

मात तात सज्जन जात वात करत है मोरी

चाखे रस की क्युं करी छूटे? सुरिजन सुरिजन टोरी हो।

इससे भी अधिक मस्ती में झूमकर आनंदघन कह उठते हैं:

भ्रात न मात न तात न गात न जात न वात न लागत मोरी,

मेरे सब दिन दरसन फरसन, तान सुधारस पान पगोरी।

मेरा कोई भाई नहीं, माता नहीं, पिता नहीं, रिश्तेदार नहीं है। उनका बात मुझे नहीं सुहाती। मरे लिये तो हर रोज उसी का दर्शन, उसी की तान उसी की पूजा, उसी की पूजा।

ऐसे सांसारिक संबंध छूट जाते हैं, माया की ममता टूट जाती है, तब मीरां के विष का प्याला अमृत बन जाता है। आनंदघन की मस्ती निरामय आनंद में लीन हो जाती है। मीरा कहती है **प्रेम पियालो में पीधो रे**, जबकि आनंदघन कहते हैं:

ज्ञानसिंधु मथित पाई, प्रेम पीयूष कटोरी हो;

मोहत आनंदघन प्रभु शीशधर देखत दृष्टि चकोरी।।

मीरां को राम रतन धन की प्राप्ति होने पर आनंद की कोई सीमा नहीं रहती; जबकि आनंदघन श्री विमलनाथ जिन स्तवन में धींग धणी माथे किया रे कहकर अपने तमाम दुःख और दुर्भाग्य से छुटकारा पाने का आनंद प्रकट करते हैं और कैसा है इन संतों का प्रभुप्रेम!

मीरां कहती हैं :

मेरे तो प्रभु गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई रे

तो आनंदघन के ऋषभ जिन स्तवन में वही प्रभुप्रीति की प्रतिध्वनि गूँज उठती है :

ऋषभ जिणेशर प्रीतम माहरा, और न चाहुं रे कंत।

मुखडानी माया लगने के बाद प्रीत पूरवनी जगती है, फिर तो वह प्रियतम जैसे रखे वैसे ही रहना है। मीरां कहती हैं कि राम राखे तेम रहिए क्योँ कि वह तो उसकी चिट्ठी नी चाकर हैं। मीरां आर्जवभरे स्वर में कहती हैं उसे तो यह चाकरी ही प्रिय हैं और इस चाकरी में

उसे भगवान का स्मरण ही इच्छित है। निर्वाह-खर्च में वह साँवलिया के दर्शन ही माँगती है और इसके अलावा गिरधारी की कुछ अधिक (उत्कट) भक्ति चाहती हैं। तभी वह कहती हैं कि **हरि मने पार उतार।** उसके लिये हुं तने नमी ने विनंती (में तुम्हें झुक-झुककर बिनती) करती हूँ।

मीरां भक्त थीं तो आनंदघन मर्मज्ञ संत थे। वे कहते हैं कि मैं तो कुछ भी नहीं जानता, केवल तेरे द्वार पर आकर तेरे गुणों का रटन ही करता हूँ। इस तरह मीरां की भक्ति में मृदुता प्रकट होती है, तो आनंदघन में मस्ती की लहर का अनुभव होता है। वे कहते हैं—

**अवधू क्या माँगू गुम हीना, जे गुनगुन पुवीना,
गाय न जानुं बजाय न जानूँ, न जानूँ सुर मेवा।**

मीरां के पदों में जिस तरह अखंड वर की प्राप्ति का आनंद है, उसी तरह से आनंदघन में स्वयं सुहागन बनने की उमंग दृष्टिगत होती है। मीरां जैसे प्रेम नी कटारी (प्रेम की कटारी) से घाटल हुई है, वैसे ही आनंदघन प्रेम के रामबाण से बिंधे हुए हैं।

**कहाँ दिखाऊँ और कूँ कहाँ समजाऊँ भोर,
तीर अचूक हैं प्रेम का लागे सो रहे ठोर।**

कवि कहता है कि प्रेम के इस बाण का घाव मैं दूसरे को कैसे दिखाऊँ वैसे भी अन्य कोई उसका स्वरूप कैसे समझ पाएगा? मीरां की तरह वे भी घायल की गत घायल जाने कहते हैं। उससे भी अधिक आनंदघन कहते हैं कि यह प्रेम का तीर ऐसा अचूक है कि एक बार चुभ जाये, तो निकलता नहीं है। और यह प्रेम सुहागन नारी अपने प्रियतम के अंगों की सेवा करती है, तब

सुन्दर रूपक लीला से आनंदघन कहते हैं कि उसके हाथों से भक्ति के रंग की मेंहदी उग निकलती है, अत्यन्त सुखदायक भावरूप अंजन लगा देती है, सहज स्वभाव स्वरूप चूड़ी पहनती है, स्थिरतारूपी कंगन धारण करती है, ध्यान उसको अपनी गोद में बिठाता है, सूरत का सिंदूर उसकी मांग में भरा जाता है, अनासक्ति रूपी जूड़ा बाँधा जाता है, ज्योति का प्रकाश उसके अंतरात्मा के त्रिभुवन में प्रकट होता है और केवलज्ञानरूपी दर्पण हाथ में लेता है। इस पद में कवि ने अनुभवरस से सौभाग्यवती बनी हुई नारी की आनंदसज्जा को रूपक के द्वारा मनोरम ढंग से सजाया है। और अन्ततः दृश्य की उस आनंदमय अवस्था को आलेखित करते हुए कवि कहते हैं:

**उपजी धुनी अजपा की अनहद, जित नगारे वारी;
झड़ी सदा आनंदघन बरखत वनमोर एक तारी।**

शुद्ध चेतना के मंदिर में चेतन आता है, अवर्णनीय मिलन होता है और आत्मस्वरूप का दर्शन होता है। इस समय यह विचार उठता है कि इसमें कर्ता कौन है? यह करनी किसकी है? और फिर इसका हिसाब कौन मांगेगा? कवि आनंदघन कहते हैं :

**साधुभाई! अपना रूप देखा, साधुभाई! अपना रूप देखा,
करता कौन कौन कुनी करनी? कौन मागेगा लेखा?**

ऐसे समय में दिन किस तरह आनंद से बीते इसका वर्णन सुमति के मुख से करवाते हुए आनंदघन कहते हैं कि हे चेतन। तेरे मीठे बोल पर मैं बलिहारी जाऊँ। तेरे बिना मुझे अन्य सभी बुरे लगते हैं। अब तो मैं तेरे बिना रह नहीं पाऊँगी। सुमति कहती है:

मेरे जीयकुं कल न परत है, बिनुं तेरे मुख दीठडे;
प्रेम पीयाला पीवत पीवत, लालन! सब दिन नीठडे।

इस समय सोहं-सोहं की ध्वनि गूँजने लगती हैं। कवि आनंदघन को तो इसके अलावा दूसरा कुछ सोचना पसंद ही नहीं: चेतन! ऐसा ज्ञान विचारो,
सोहं सोहं सोहं सोहं, सोहं अणु न बीया सारो।

अंतर के दरवाजे पर विजय का डंका बजने लगता है। आनंद राशिरूप वर्षा मूसलाधार बरसने लगती है और वन के मोर उसके साथ एकाकार हो जाँ ऐसी एकरूपता सुमति और चेतन के बीच स्थापित होती है।

(क्रमशः)

सोने के कंगन

वह पुरुष बोलता गया—

नगर में धन-धान्य-सुख साधनों की कोई कमी न थी किन्तु मनुष्य का नाम निशान भी न था। हम दोनों दिन भर घूमते रहे और रात को एक स्थान पर सोने का विचार करने लगे। नगर की जन शून्यता के कारण हमारे हृदय आशंकित तो थे ही। हम दोनों ने निश्चय किया कि एक सोये और दूसरा जाग कर पहरा दे, उँधे नहीं।

रत्नसार बड़ा अच्छा साथी है। उने रात्रि के प्रथम भाग में मुझे सुला दिया और स्वयं जागता रहा। ठीक अर्धरात्रि को एक सिंह आया। सिंह क्या था साक्षात् काल ही था। उसकी भयंकरता देखकर एक बार मृत्यु भी काँप जाय। उससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह थी वह मनुष्यों की भाषा बोलता था। आते ही उसने एक घोर गर्जना की। उसकी भयंकर गर्जना से मेरी नींद तो खुल गयी, एक बार मैंने आँखें खोलकर देखा भी परन्तु उसके विशाल आकार और तेजस्वी मुख को देखकर आँखें मींच ली।

सिंह ने कहा—इस सोते हुए मनुष्य को मुझे सौंप दे। मुझे भूख लगी है। इसे खाकर अपनी पेट की ज्वाला शांत करूँगा।

रत्नसार ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया— सिंह! मैं विश्वासघाती नहीं हूँ। यह मुझ पर विश्वास करके निश्चिन्त सोया है। इसे तो मैं नहीं दे सकता। यदि तू बहुत भूखा है तो मुझे खाकर अपनी क्षुधा शांत कर ले।

निर्भीक वचनों से वह सिंह शांत हुआ, और बोला—माँग-माँग तुझे क्या चाहिए मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ। जो माँगोगा वही दूँगा।

रत्नसार से पूछा—पर तू है कौन?

तब सिंह ने बताया—

—इस गांधारपुर नगर के राजा रविचन्द्र के दो पुत्र थे— बड़ा रतिचन्द्र और छोटा कीर्तिचन्द्र। राजा ने रतिचन्द्र को राजा और कीर्तिचन्द्र को युवराज बनाकर दीक्षा ग्रहण कर ली। रतिचन्द्र ऐश-आराम और संगीत में डूब गया। परिणामस्वरूप शासन सूत्र कीर्तिचन्द्र के हाथों में आ गया। शासन सत्ता ने उसका मस्तिष्क चलायमान कर दिया और उसने रतिचन्द्र का सिर काटने की आज्ञा अपने सामंतों को दे दी।

रतिचन्द्र ने कीर्तिचन्द्र के पास जाकर जीवनदान मांगा किन्तु वह राजी न हुआ। तब रतिचन्द्र ने कहा कि मैं तुम्हारे सामने ही अग्नि में जलकर मर जाऊँगा। इस पर कीर्तिचन्द्र सहमत हो गया और रतिचन्द्र चिता में प्रवेश करके जल मरा। अग्नि प्रवेश के पाप के कारण वह मरकर व्यंतर हो गया। सबसे पहले उसने अपना बदला कीर्तिचन्द्र से लिया। उसने कीर्तिचन्द्र को उठाकर फेंक दिया। उसके भय से मंत्री, सामन्त आदि भाग गये और नगर उजड़ गया।

वह रतिचन्द्र नाम का व्यंतर मैं ही हूँ। किसी को भी इस नगर में रहने नहीं देता। किन्तु तुम्हारा सत्य देखकर तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ।

रत्नसार ने कहा—तुम प्रसन्न हो तो इस नगर को ही पुनः बसाओ।

—यदि तुम यहाँ के राजा बनना स्वीकार करो तो मैं इस नगर को पुन बसा दूँ— सिंह ने तत्काल उत्तर दिया।

कुमार रत्नसार ने स्वीकृति दे दी। व्यंतर ने पुनः नगर बसा दिया। रत्नसार का नया नाम रखा गया—देवप्रसाद।

देवप्रसाद राज्यसत्ता और बहुत सी सुन्दरियों का स्वामी बनकर भी बेचैन ही रहा। उसे अपने भाई गिरिसुन्दर की स्मृति प्रतिपल सताती रहती है। एक बार इसी नगर में तुमसे मिलेगा। किन्तु उसे चैन नहीं है।

मैं अपने मित्र के भाई की खोज में जगह-जगह भटक रहा हूँ। इतना कहकर महासेन चुप हो गया। उसके मुख पर चिन्ता की रेखायें उभर आईं।

रूप बदले हुए कुमार गिरिसुन्दर ने उस यात्री महासेन से कहा—

—मित्र! चिन्ता मत करो। तुम मुझे रत्नसार से मिलाओ। मैं उसे गिरिसुन्दर से मिलवा दूँगा।

महासेन सहमत हो गया। आगे-आगे महासेन और पीछे-पीछे रूप बदला हुआ गिरिसुन्दर दोनों रत्नसार के पास पास पहुँचे। महासेन ने इस नवीन पुरुष की उससे भेट करा दी और यह भी बता दिया कि यह पुरुष तुम्हें गिरिसुन्दर से मिलवा देगा।

रत्नसार ने उस नये आदमी को देखा। पहचान तो वह न सका। परन्तु हृदय में प्रेम अवश्य उत्पन्न हो गया। कुछ ही दिनों में नवीन पुरुष और रत्नसार अभिन्न मित्र बन गये।

एक दिन रत्नसार बोला—मित्र! तुम तो कहते थे कि मुझे मेरे भाई गिरिसुन्दर से मिला दोंगे। इतना समय तो हो गया। अभी

तक तो उसका कुछ पता नहीं लगा। यदि वह न मिला तो मैं चिंता में कूद कर अपने प्राण दे दूँगा। मेरे जीवन का अन्त समीप ही समझो।

पुरुष ने उत्तर दिया—तुम्हें गिरिसुन्दर ही चाहिए, न? मेरी ओर देखो। ध्यान से देखो।

रत्नसार उसे ध्यान से देखने लगा तो सामने गिरिसुन्दर खड़ा था।

क्योंकि गिरिसुन्दर ने अब अपना असली रूप प्रगट कर दिया था। दोनों भाई एक दूसरे से मिलकर बहुत आनंदित हुए। अपनी-अपनी आप-बीती सुनाते रहे।

यक्ष की सहमति से रत्नसार ने गांधारपुर का राज्य तो महासेन को सौंपा और दोनों भाई अपने नगर को चल दिये। छोटे भाई का परिवार भी साथ था।

राजा श्रीबल ने दोनों कुमारों का हृदय खोलकर स्वागत किया और बोले—हम दोनों भाईयों का तो अटूट प्रेम है ही किन्तु इन दोनों का प्रेम तो हमसे भी अधिक दृढ़ और गहरा है। पूर्व जन्म में अवश्य ही इन्होंने शुभ कर्म किये होंगे जिसके कारण वे जहाँ भी जाते हैं समृद्धि इनके साथ-साथ चलती है।

कुमार गिरिसुन्दर ने देव मन्दिर तो उसके मालिको को सौंपा और अपनी सब पत्नियों को लाकर महल में रख लिया। सभी का समय आनन्दपूर्वक व्यतीत होने लगा।

पाण्डुपुर नगर जयनंदन आचार्य की चरण रज से पवित्र हुआ। राजा श्रीबल समस्त परिवार और परिकर सहित उनके नमन-वंदन को गया। आचार्यश्रीजी ने सवेग-वैराग्य प्रधान देशना दी।

राजा ने कुमार गिरिसुन्दर और रत्नसार के पूर्वभवों के बारे में पूछा तो आचार्य श्री ने शंखराजा से लेकर अब तक के सभी जन्मों का वर्णन सुना दिया।

श्रीबल की जिज्ञासा पर आचार्यश्री ने उसका भी पूर्वजन्म बताते हुए कहा—

राजन्! तुम और शतबल दोनों पूर्वभव में कुलपुत्र थे। उस जन्म में तुम्हारे नाम थे विन्ध्य और शबल। उस समय भी तुम दोनों में ऐसा ही प्रेम था।

एक बार तुम लोग धनोपार्जन हेतु परदेश की ओर चले। मार्ग में एक यक्षमन्दिर के समीप तुम भोजन के लिए बैठे ही थे कि एक तपस्वी मुनि वहाँ पधारे। उनको भक्ति-भावपूर्वक तुमने आहार आदि से प्रतिलाभित किया। उसी समय यक्ष मंदिर से दो सुन्दरियाँ पूजा करके निकली। तुम्हारे दान की प्रशंसा उन्होंने मन ही मन की। इस दान के प्रभाव से तुम चारों ने देवकुरु भोगभूमि में जन्म पाया। वहाँ से मृत्यु पाकर इस भव में वे दोनों स्त्रियाँ ही तुम्हारी पत्नी हुई हैं।

आचार्यश्री ने राजा श्रीबल को संवोधित करके कहा—

नरेश! तुमने जिस देवकुरु भोगभूमि का बंध आहार का दान देकर किया उन सुन्दरियों ने मात्र भाव से ही कर लिया। इसीलिए राजन्! भाव की महिमा अधिक है। जो काम भाव से—हृदय की तल्लीनता से किया जाता है उसका फल भी ज्यादा होता है। अतः सभी धार्मिक क्रियाएँ भावपूर्वक करनी चाहिए।

अपने पूर्वजन्म को सुनकर राजा श्रीबल को बैराग्य उत्पन्न हो गया। गिरिसुन्दर को राज्य का भार देकर वह आचार्यश्री के समीप

ही प्रव्रजित् हो गया। उसके साथ ही शतबल और बहुत सामन्तों ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली।

गिरिसुन्दर अपने भाई रत्नसार के साथ न्याय-नीति-पूर्वक राज्य का संचालन करने लगा। ग्रहस्थाश्रम के भोग भोगते हुए उसे बहुत समय व्यतीत हो गया।

एक रात राजा गिरिसुन्दर ने विचित्र स्वप्न देखा। स्वप्नों का संसार भी अलग है। वहाँ कोई तर्क नहीं चलता। ऐसी-ऐसी विचित्र घटनायें दिखाई देती हैं जिनकी जागृत अवस्था में कल्पना भी नहीं की जा सकती। गिरिसुन्दर को रात्रि के अन्तिम प्रहर में दिखाई दिया कि एक कल्पवृक्ष अपनी ही जाति के दूसरे कल्पवृक्ष पर चढ़ गया।

इस विचित्रता से राजा की नींद टूट गई। वह विचारने लगा—कैसा विचित्र स्वप्न है। एक पेड़ अपने स्थान से उखड़ता है और दूसरे वृक्ष पर चढ़ जाता है। मानों उसके पैर लगे हो। गिरिसुन्दर का विचार-प्रवाह प्रवाहित हुआ—स्वप्न में कल्पवृक्ष देखना शुभ है। वृक्ष के ऊपर चढ़ना उन्नति का सूचक है। उन्नति? कैसी उन्नति करूँगा मैं? लौकिक — किसी राजा पर आक्रमण करके राज्य विस्तार! नहीं, यह नहीं करना चाहिए, अन्याय है, व्यर्थ ही बैठे-बिठाये अनेक मनुष्यों की हिंसा करा देना सर्वथा घोर पाप का बन्ध है। तब पारलौकिक-आध्यात्मिक उन्नति ही करनी चाहिए। यही श्रेष्ठ है। स्व-पर-कल्याण साधना ही तो उचित और आत्मोन्नति का मार्ग है।

यह निश्चय करके गिरिसुन्दर उठा और नित्यकर्मी से निपट कर छोटे भाई रत्नसार से बोला—

—बन्धु! बहुत समय तक सांसारिक सुख-भोगों में निमग्न रहा। अब मैं इस मायाजाल को तोड़कर श्रामणी दीक्षा लेना चाहता हूँ। तुम राज्य संभालो और मुझे आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होने दो।

रत्नसार ने विनपूर्वक कहा—

—भैया! आप तो सांसारिक मायाजाल को छोड़ना चाह रहे हो। तो क्या यह मेरे लिए मायाजाल नहीं है। मैं भी आत्मसाधना करना चाहता हूँ। आपके लिए संसार दुःखरूप है तो मेरे लिए सुख रूप कैसे हो गया? मैं भी प्रव्रज्या लूँगा।

गिरिसुन्दर ने अपने पुत्र को राज्यभार सौंप दिया और दोनों भाई प्रव्रजित हो गये।

मुनि गिरिसुन्दर और रत्नसार ने द्वादशांग श्रुत का अभ्यास किया और निरन्तर संयम का पालन करने लगे। गुरु कृपा से उन्हें निर्मल ज्ञान और चारित्र की उपलब्धि हुई। उनकी आत्मा महक उठी।

निर्मल चारित्र का पालन करते हुए दोनों भाई कालधर्म प्राप्तकर नवम ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए।

कनकध्वज और जयसुन्दर: नवाँ भव :

कनकध्वज और जयसुन्दर दोनों ताम्रलिप्ती नरेश सुमंगल के पुत्र थे।

राजा सुमंगल की दो रानियाँ थी—श्रीप्रभा और स्वयंप्रभा।

रानी श्रीप्रभा ने जन्म दिया कनकध्वज को और स्वयंप्रभा ने जयसुन्दर को।

राजागिरिसुन्दर का जीव जिस समय नवें ग्रैवेयक से च्यवकर रानी श्रीप्रभा के गर्भ में आया तभी रानी ने स्वप्न में कनक (स्वर्ण) का

ध्वज देखा था। इसी कारण पुत्र का नाम कनकध्वज रखा गया।

रानी स्वयंप्रभा का पुत्र जयसुन्दर रत्नसार का जीव था जो ग्रैवैयक से अपना आयुष्य पूर्णकर ताम्रलिप्ती नरेश के घर जन्मा।

दोनों भाई कनकध्वज और जयसुन्दर को युवा होते दैर न लगी। सुख का काल कब व्यतीत हो जाता है पता ही नहीं लगता। इसीलिए कहावत है कि सुख के दिन छोटे होते हैं और दुःख के बड़े। दोनों भाई नगर के बाहर राधावेध सीखने लगे।

एक समय दोनों राजकुमार नगर के बाहर वन में राधावेध का अभ्यास कर रहे थे। इसी समय आकाशमार्ग से सुरवेग और सुवेग दो विद्याधर जा रहे हैं। उन्होंने देखा, दो युवक राधावेध कर रहे हैं। उनकी कुशलता से आकृष्ट होकर वे कुछ देर तक तो देखते रहे फिर प्रसन्न होकर उन्होंने पुष्पवृष्टि की और प्रशंसा करते हुए अपने मार्ग पर चले गये।

अपने नगर में जाकर भी उन्होंने दोनों कुमारों की कुशलता की प्रशंसा राजसभा और अपनी रानियों से की। सद्गुणों की प्रशंसा से उनकी पुत्रियाँ आकृष्ट हो गईं। गुणवान और साहसी पति किस कुमारी को अच्छा नहीं लगता? उनकी इच्छा भी उन्हें पति रूप में वरण करने को बलवती हो गई।

पुत्रियों की इच्छा जानकर विद्याधरों ने उनका विवाह ताम्रलिप्ती के राजकुमारों के साथ करना निश्चित किया।

ताम्रलिप्ती नगरी में राजा सुमंगल अपनी राज्यसभा में अपने सिंहासन पर बैठा था। अचानक ही आकाश में कल कल ध्वनि

१. इसमें एक पुतली बनाकर किसी वृक्ष या स्तम्भ पर लटका दी जाती है और नीचे जल या किसी तरल पदार्थ-तेल आदि में देखकर उसकी आंख को बाण से बाँधा जाता है।

होने लगी। समस्त सभा विचार में पड़ गई कि यह विचित्र आवाज कैसी है? तब तक दो विद्याधर आकाश से राजसभा में उतरे और महाराज को अभिवादन करके बोले—

—राजेन्द्र! हम दोनों विद्याधरों के स्वामी सुरवेग और सुवेग के दूत हैं। हमारे स्वामी अपनी-अपनी सौ-सौ कन्याओं को साथ लेकर आ रहे हैं। आपके दोनों पुत्रों की राधावेध की कुशलता की प्रशंसा के आकृष्ट होकर उन कन्याओं ने मन ही मन इन्हें अपना पति मान लिया है।

आप से निवेदन है कि जो भी जल्दी का शुभ मुहूर्त हो इसमें लग्न करालें।

राजा सुमंगल के हर्ष का ठिकाना न रहा। उन्होंने दूतों का उचित सत्कार किया और उन्हें अलग-अलग ठहरा दिया।

लग्न मण्डप में विद्याधर सुरवेग की सौ कन्याओं से कनकध्वज का और सुवेग की सौ कन्याओं से जयसुन्दर का विवाह सम्पन्न हो गया।

विद्याधरों ने स्वयं आकर अपनी सौ-सौ कन्याओं का लग्न ताम्रलिप्ती के दोनों कुमारों से किया है—यह समाचार चारों ओर फैल गया। अन्य राजाओं ने भी आकृष्ट होकर अपनी-अपनी कन्याओं का लग्न उनसे कर दिया। समृद्धि और भी अधिक समृद्धि को आकृष्ट करती है तथा दीनता दीनता को। अब दोनों कुमारों की पाँच-पाँच सौ पत्नियाँ हो गईं।

कुमारों को पत्नियाँ मिली, माता-पिता को बधुएँ और दहेज से महल भर गया।

पुत्री की ऋद्धि और समृद्धि देखकर माता-पिता के हर्ष का ठिकाना न रहा। विनीत पुत्र और सेवा करने वाली एक ही वधु माता-पिता के लिए वरदान स्वरूप होती है, तो वहाँ तो एक हजार वधुएँ और दो पुत्र थे और वह भी विनीत होने के साथ-साथ साहसी, पराक्रमी और सद्गुणी। माता-पिता के हर्ष का क्या ठिकाना ऐसे होनहार पुत्रों के होने के कारण।

पिता सुमंगल सोचने लगे—पुत्रों का कैसा अद्भुत पुण्य है। विद्याधर भी अपनी कन्याएँ जिसे देने स्वयं आवें उसकी ऋद्धि-समृद्धि का क्या कहना? ऐसे सुन्दर, पुण्यवान और समृद्धिशाली पुत्रों के होते हुए मेरा राज्य सिंहासन पर बैठना उचित नहीं है। अधिक पुण्यशाली के समक्ष कम पुण्यवान को उच्च अधिकार अपने अधीन रखना न्याय के विपरीत है।

इन विचारों के कारण राजा को राज्यभार कंटक-सा मालूम पड़ने लगा। उन्होंने कुमार कनकध्वज को सिंहासन पर बिठाया, जयसुन्दर को युवराज पद दिया और स्वयंवर केवली के पास जाकर स्वयं दीक्षित हो गये।

योग्य पिता ने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया।

राज्याधिकार प्राप्त होते ही राजा कनकध्वज और युवराज जयसुन्दर ने धन का—राज्यकोष का सदुपयोग प्रारम्भ कर दिया। दीन-दुःखियों के कष्ट दूर करने, प्रजा की उन्नति और हितकारी कार्यों में वे धन का व्यय करने लगे। अनेक प्रकार से उन्होंने जिनशासन की प्रभावना की। उनके राज्य में धन की बहुत प्रभावना हुई।

दोनों भाई मुनियों की वंदना हेतु निकल पड़े। अनेक ग्रामों,

नगरों और राज्यों में घूमकर साधुओं की वंदना की। उपाश्रयों में, वनों में—जहाँ भी उन्हें सुनाई पड़ जाता कि कोई चारित्रधारी साधु हैं, वे वहीं जाकर उनको नमन-वंदन करते और धर्म लाभ लेते।

साधुवंदना करते हुए एक बार राजा कनकध्वज और युवराज जयसुन्दर साकेतपुर नगर में पहुँचे। वहाँ नगर के बाहर उद्यान में गुणधर मुनि दिखाई पड़े। दोनों ने भक्तिपूर्वक उनकी वंदना की और बैठ गये। उस समय वहाँ राजा पुरुषोत्तम भी अपने पुरोहित कपिजल के साथ उपस्थित था। पुरोहित जीव संबंधी अनेक प्रश्न मुनिश्री से पूछ रहा था। मुनिश्री उनका उचित और तर्कयुक्त समाधान कर रहे थे किन्तु कपिजल के गले बात नहीं उतर रही थी। राजा पुरुषोत्तम ने अंजलि जोड़कर प्रश्न किया—

—पूज्य ! आपके युक्तियुक्त और सत्य वचन भी कपिजल को संतुष्ट नहीं कर पा रहे हैं। कपिजल विद्वान है, विवेकी है, फिर भी यह असंतोष, यह प्रच्छन्न विरोध और बुद्धि की अग्राहकता? मुने! क्या इसका कोई और भी कारण है?

मुनिश्री ने कहा—हाँ राजन्! इसके पूर्वजन्म के विरोधी संस्कार आत्मा में जमें हुए हैं। उन्हीं के कारण यह समझकर भी नहीं समझ पा रहा है।

स्वामी! मुझे जिज्ञासा हो रही है। इसका पूर्वभव बताएँ। आपकी अति कृपा होगी।

राजा की प्रार्थना पर मुनिराज कहने लगे—

राजन्! वसंतपुर में वीरांगद नाम का राजा था। वह वन में शिकार खेलने गया। उसने किसी वन्य पशु पर बाण चलाया किन्तु

पशु तो भाग गया और बाण जा लगा एक तपस्यारत मुनि के पाँवों में। राजा ने जो यह देखा तो वह बहुत दुःखी हुआ। पश्चात्ताप करता हुआ मुनि के पास गया और उनसे क्षमा माँगी। जैन श्रमण तो उत्तम क्षमा धर्म का पालन करते ही हैं। मुनि की तो—

‘अरघावतारन असि प्रहारन में सदा समता धरन।’ की वृत्ति उदार ही होती है। दया सागर मुनि ने राजा को धर्म बोध दिया और उनके वचन निमित्त से वीरांगद के हृदय में धर्म का बीज आरोपित हो गया। उसके चित्त को शांति मिली। धर्म रूपी जल से उसकी हृदय बेल सिंचित हो गई। मुनिश्री की वंदना करके वह नगरी को जला आया।

वसन्तपुर के धर्मनिष्ठ श्रावक जिनप्रिय से राजा का परिचय हुआ। उसकी सत्संगति से राजा वीरांगद भी धर्मनिष्ठ हो गया। बीज तो मुनिश्री के देशना से वपन हो गया था और पल्लवित कर दिया श्रावक जिनप्रिय की सत्संगति ने। मोहन नाम के पुजारी से भी राजा का स्नेह था। वह धर्म के तत्व को जानता तो था किन्तु उस पर आचरण नहीं करता था, उसका कारण था—उसकी स्वार्थवृत्ति! और वीतराग धर्म का पालन ही स्वार्थ त्याग से होता है। इसीलिये वह जानकर भी अनजान बना रहता। धर्मचरण नहीं करता—स्वार्थ में ही लिप्त रहता है।

राजा वीरांगद के हृदय में पूर्ण संयम पालन करने का विचार आया। उसकी यह भावना बल पकड़ने लगी। उसने मोहन पुजारी से कहा—

पुजारी जी! किसी श्रमण की तलाश करो। मैं राजपाट त्यागकर प्रव्रजित होना चाहता हूँ।

—जो आज्ञा महाराज!— कहकर पुजारी ने स्वीकृति दे दी किन्तु उसकी स्वार्थवृत्ति ने जोर मारा। सोचने लगा—जब तक राजा जीवित है, राज्य का स्वामी है तब तक तो मेरी आजीविका सुखपूर्वक चल रही है। दूसरा राजा न जाने कैसा हुआ? यदि विपरीत वृत्तिवाला हुआ तो जीविका कैसे चलेगी? कुछ दिन बाद उसने आकर राजा से कहा—

—महाराज! मैंने जगह-जगह साधुओं को तलाश की, किन्तु कोई निरतिचार चारित्रधारी श्रमण मिला ही नहीं। कोई परिग्रही है तो कोई शिथिलाचारी।

—फिर क्या किया जाय?—निराशापूर्वक राजा ने पूछा।

—मेरी सलाह हो यह है कि आप गृहस्थाश्रम में ही रहकर दान-शील-स्वाध्याय-तप आदि कीजिए।

स्वार्थी की स्वार्थवृत्ति ने एक जीव को कल्याण-पथ पर अग्रसर होने में बाधा उपस्थित कर दी। ऐसे स्वार्थी लोग दूसरे की कार्य हानि ही करते हैं।

राजा की भावना उत्कट थी। उसने श्रावक जिनप्रिय से कहा—भद्र! मेरी इच्छा प्रव्रज्या ग्रहण करने की है, किन्तु कोई योग्य साधु ही नहीं मिलता।

—कौन कहता है साधुओं का अभाव हो गया है?

—पुजारी मोहन कहता है। उसने बहुत खोज की किन्तु कोई निर्मल चारित्रधारी साधु मिला ही नहीं।

—अभी जिन-मार्ग का लोप नहीं हुआ है, महाराज! एक नहीं, अनेक महाव्रतधारी श्रवणसाधु इस धरा को पवित्र कर रहे हैं।

राजा वीरांगद का हृदय प्रसन्न हो गया। जयकान्त मुनि के पास दीक्षा ली और संयम पालन करके महाशुक देवलोक को गया।

अपनी बात के पराभव से मोहन पुजारी स्वयं को अपमानित अनुभव करने लगा। वह साधुओं का घोर निंदक हो गया। संघ का अवर्णवाद ही उसका नित्य कार्य था, निथ्या प्रचार के कारण बहुत से दानशील श्रावक भी धर्म-भ्रष्ट हो गये। इस घोर पाप के कारण उसे अन्य समय में सुखपाक रोग हो गया और उसी रोग के कारण मरकर विध्याटवी (विध्याचल पर्वत का वन) में हाथी हुआ। वहाँ उसे वन्य जाति के मनुष्यों ने पकड़ लिया। उन लोगों ने वह हाथी किसी धनवान सेठ को बेचा और सेठ ने मधुरा नगरी के राजा को भेंट स्वरूप अर्पित कर दिया। राजा की गजसेना में सम्मिलित होकर वह संग्राम में जाने लगा। उसकी भयंकर और क्रूर प्रवृत्ति से प्रभावित होकर राजा उससे शत्रु दुर्गों के द्वार तोड़ने का काम लेता। द्वारों पर मस्तक से टक्कर मारने के कारण उसका मस्तक फूट-फूट जाता, हड्डियाँ चरमरा जाती।

एक बार वह समीप के वन में गया। वहाँ कोई मुनि ध्यानस्थ बैठे थे। पूर्वभव के साधु-वैर के कारण वह उन्हें मारने दौड़ा। किन्तु महापाप के उदय से गहरे गड्ढे में गिर पड़ा। समस्त अंग टूट से गये। किसी राजकुमार ने गजमुक्ता को लोभ से उसका कपाल तोड़ दिया। अत्यन्त वेदनाजन्य आर्तध्यान से मरकर वह रत्नप्रभा नरकभूमि में गया। वहाँ की वेदना भोग कर निकला तो सेचानक पक्षी हुआ। वहाँ भी उसने जघन्य पाप किये और मरकर बालुकाप्रभा नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से निकला तो सिंह बना और क्रूर कर्मों के कारण मरकर पंकप्रभा नरकभूमि में गया। वहाँ की दारुण

वेदना भोगकर धनपुर नगर के कामदत्ताभिध नाम के निर्धन वैश्य के घर चन्द्रदत्ता नाम की उसकी स्त्री के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम सुमित्र रखा गया। निर्धनता में पलकर वह युवक हो गया।

जिनप्रिय श्रावक का जीव श्रावकधर्म का पालन करके सप्तम शुक देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ अनेक प्रकार के दिव्य सुख भोगकर उसने मरणधर्म प्राप्त किया और उसी धनपुर नगर में विनयंधर सेठ की पत्नी गुणवती के उदर से गुणधर नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। अनुक्रम से बढ़ते हुए उसने भी युवावस्था में प्रवेश किया।

यद्यपि गुणधर धनी और सुमित्र निर्धन था, किन्तु पूर्वजन्मों के संस्कारवश उन दोनों में मित्रता हो गयी। गुणधर तो सरल चित्त सच्चा मित्र था किन्तु सुमित्र कपटी मित्र! सच्चा मित्र वही होता है जो मित्र का दुःख दूर करे। गुणधर भी अपने मित्र की निर्धनता के कारण चिंतित था। वह सुमित्र के साथ व्यापार हेतु विदेश जाने को तैयार हुआ। दोनों ने निर्मय किया कि लाभ में आधा-आधा कर लेंगे।

क्रमशः

JAIN BHAWAN PUBLICATIONS			
P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone: 2268 2655			
English :			
1.	Bhagavati-sutra-Text edited with English translation by K. C. Lalwani in 4 volumes:		
	Vol - 1 (satakas 1- 2)	Price : Rs.	150.00
	Vol - 2 (satakas 3- 6)		150.00
	Vol - 3 (satakas 7- 8)		150.00
	Vol - 4 (satakas 9- 11) ISBN : 978-81-922334-0-6		150.00
2.	James Burges - The Temples of Satrunjaya. Jain Bhawan. Kolkata ; 1977. pp. x+82 with 45 plates (It is the glorification of the sacred mountain Satrunjaya.)	Price : Rs.	100.00
3.	P. C. Samsukha - Essence of Jainism	Price : Rs.	15.00
	ISBN : 978-81-922334-4-4		
4.	Ganesh Lalwani - Thus Sayeth Our Lord,	Price : Rs.	50.00
	ISBN : 978-81-922334-7-5		
5.	Verses from Cidananda Translated by Ganesh Lalwani	Price : Rs.	15.00
6.	Ganesh Lalwani - Jainthology	Price : Rs.	100.00
	ISBN : 978-81-922334-2-0		
7.	Lalwani and S. R. Banerjee- Weber's Sacred Literature of the Jains	Price : Rs.	100.00
	ISBN : 978-81-922334-3-7		
8.	Prof. S. R. Banerjee Jainism in Different States of India	Price : Rs.	100.00
	ISBN : 978-81-922334-5-1		
9.	Prof. S. R. Banerjee Introducing Jainism	Price : Rs.	30.00
	ISBN : 978-81-922334-6-8		
10.	Smt. Lata Bothra- The Harmony Within	Price : Rs.	100.00
11.	Smt. Lata Bothra- From Vardhamana- to Mahavira	Price : Rs.	100.00
12.	Smt. Lata Bothra- An Image of- Antiquity	Price : Rs.	100.00
Hindi :			
1.	Ganesh Lalwani - Atimukta (2nd edn) Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	40.00
2.	Ganesh Lalwani - Sraman Samskriti Ki Kavita, Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	20.00
3.	Ganesh Lalwani - Nilanjana, Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	30.00
4.	Ganesh Lalwani - Chandan-Murti Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	50.00
5.	Ganesh Lalwani-Vardhaman Mahavira	Price : Rs.	60.00

6.	Ganesh Lalwani-Barsat ki Ek Raat,	Price : Rs.	45.00
7.	Ganesh Lalwani -- Panchdasi.	Price : Rs.	100.00
8.	Rajkumari Begani-Yado ke Aine me.	Price : Rs.	30.00
9.	Dr. Lata Bothra - Bhagavan Mahavira Aur Prajatantra	Price : Rs.	15.00
10.	Dr. Lata Bothra - Sanskriti Ka Adi Shrote, Jain Dharm	Price : Rs.	24.00
11.	Prof. S.R. Banerjee - Prakrit Vyakarana Praveshika	Price : Rs.	20.00
12.	Dr. Lata Bothra - Adinath Risabdev Aur Asthapad	Price : Rs.	250.00
	ISBN : 978-81-922334-8-2		
13.	Dr. Lata Bothra - Astapad Yatra	Price : Rs.	50.00
14.	Dr. Lata Bothra - Aatm Darsan	Price : Rs.	50.00
15.	Dr. Lata Bothra - Varanbhumi Bengal	Price : Rs.	250.00
	ISBN : 978-81-922334-9-9		
16.	Dr. Lata Bothra - Tatva Bodh	Price : Rs.	50.00
Bengali :			
1.	Ganesh Lalwani-Atimukta,	Price : Rs.	40.00
2.	Ganesh Lalwani-Sraman Sanskriti ki Kavita	Price : Rs.	20.00
3.	Puran Chand Shymsukha-Bhagavan Mahavir O Jaina Dharma.	Price : Rs.	15.00
4.	Prof. Satya Ranjan Banerjee Prasnottare Jaina-Dharma	Price : Rs.	20.00
5.	Dr. Jagatram Bhattacharya Das Baikalik Sutra	Price : Rs.	25.00
6.	Prof. Satya Ranjan Banerjee Mahavir Kathamrita	Price : Rs.	20.00
7.	Sri Yudhishtir Majhi Sarak Sanskriti O Puruliar Purakirti	Price : Rs.	20.00
Some Other Publications :			
1.	Dr. Lata Bothra - Vardhamana Kaise Bane Mahavir	Price : Rs.	15.00
2.	Dr. Lata Bothra - Kesar Kyari Me Mahakta Jain Darshan	Price : Rs.	10.00
3.	Dr. Lata Bothra - Bharat Me Jain Dharma	Price : Rs.	100.00
4.	Acharya Nanesh - Samata Darshan Aur Vyavhar (Bengali)	Price : Rs.	
5.	Shri Suyesh Muniji - Jain Dharma Aur Shasnavali (Bengali)	Price : Rs.	50.00
6.	K.C.Lalwani - Sraman Bhagwan Mahavira	Price : Rs.	25.00
इसके अलावा जैन धर्म से सम्बन्धित अन्य तीन पत्रिकाएँ :			
अंग्रेजी त्रैमासिक पत्रिका	वार्षिक		500.00
ISSN 0021 - 4043	(आजीवन)		5000.00
हिन्दी मासिक पत्रिका	वार्षिक		500.00
ISSN 2277 - 7865	(आजीवन)		5000.00
बंगला मासिक पत्रिका	वार्षिक		200.00
ISSN : 0975 - 8550	(आजीवन)		2000.00